श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

# आत्मानुशासन प्रवचन

## पंचम भाग

प्रवक्ता
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

सम्पादक :—
महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
( उत्तर प्रदेश )

प्रथम संस्करण
१००० ]    सन् १९६९    [ मूल्य
१)५०

## श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,

सरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी

श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१ श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर
२ ,, सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
३ ,, कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
४ ,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
५ ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
६ ,, मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
७ ,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
८ ,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
९ ,, दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
१० ,, वारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
११ ,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, जगाधरी
१२ ,, केवलराम उग्रसैन जी जैन, ज्वालापुर
१३ ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
१४ ,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
१५ ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
१६ ,, जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
१७ ,, मत्री जैन समाज, खण्डवा
१८ ,, बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सर
१९ ,, विशालचन्द जी जैन, रईस सहारनपुर
२० ,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर, इटावा
२१ ,, सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन, संघी, जयपुर

| | | | |
|---|---|---|---|
| २२ | श्रीमान् | मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज, | गया |
| २३ | „ | सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, | गिरिडीह |
| २४ | „ | बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन | गिरिडीह |
| २५ | „ | बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, | गिरिडीह |
| २६ | „ | सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, | मुजफ्फरनगर |
| २७ | „ | सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, | बड़ौत |
| २८ | „ | गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, | लालगोला |
| २९ | „ | दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, | कानपुर |
| ३० | „ | मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी, | आगरा |
| ३१ | „ | संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी, | आगरा |
| ३२ | „ | नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, | रुड़की |
| ३३ | „ | झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले, | सहारनपुर |
| ३४ | „ | रोशनलाल के० सी० जैन, | सहारनपुर |
| ३५ | „ | मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट | सहारनपुर |
| ३६ | „ | बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, | शिमला |
| ३७ | „ | सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, | सदर मेरठ |
| ३८ | „ ❀ | गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज | गया |
| ३९ | „ ❀ | बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा, | झूमरीतिलैया |
| ४० | „ ❀ | इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर, | कानपुर |
| ४१ | „ ❀ | सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, | जयपुर |
| ४२ | „ ❀ | बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. | सदर मेरठ |
| ४३ | „ ❀ | ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, | सदर मेरठ |
| ४४ | „ × | जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, | सहारनपुर |
| ४५ | „ × | जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, | शिमला |

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

# आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी ज्ञान, वे विराग यहँ राग वितान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५ ॥

# आत्मानुशासन प्रवचन पंचम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्या भास्वानिव हि भासताम् ॥१२०॥

सयमीको प्रकाशप्रधान होनेकी अनिवार्यता—सयमी पुरुष पहिले प्रदीप की तरह प्रकाशप्रधान हुआ करता है, पीछे ताप और प्रकाशमें सूर्य की तरह देदीप्यमान होता है। शान्तिके लिए जिसने अपना भावात्मक कदम रक्खा है, सयम, तप, व्रत आचरणमें जिसने अपनी परिणति की है वह पुरुष ज्ञानप्रधान होता है। पहिले उसे वस्तुस्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान करके स्वयमें शुद्ध प्रकाश वाला बन जाना चाहिए, तब संयम ठीक कहलाता है। जब तक अपने लक्ष्यकी पकड़ नहीं हो पाती है तब तक कुछ भी क्रिया करे उन क्रियावोंसे उस लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

लक्ष्यके बिना क्रियाओंकी विडम्बना—जैसे नाव खेने वाला कोई लक्ष्य न बनाये हो कि हमे उस घाट पहुचना है तो वह कभी नाव पूर्वको खेवेगा कभी पश्चिमको, कभी उत्तर और कभी दक्षिणको। इस तरह वह कभी ठिकाने नहीं पहुच सकता। अपना लक्ष्य बना लेना यह धर्मपालनमें प्रथम आवश्यक है। क्या बनना है हमें, यह लक्ष्यमें न आये, तो हम कैसे अपना कदम बढ़ा सकते हैं? अधेरेकी तरह रहे कोई पुरुष किसलिए हम प्रभुभक्ति करें, किसलिए जाप, तप, ध्यान करें, इसका कुछ भी भान न हो सही तो क्या कर रहा है, क्यो कर रहा है, देखा देखी कर रहा है उसका अथ इतना ही निकलेगा। लोग करते हैं इसने भी किया। जैसे मा मदिर जाती है तो बच्चा भी साथ हो लेता है। माने ढोंक दिया तो बच्चा भी ढोक देने लगता है। और कभी कभी तो वह बच्चा प्रभुमूर्तिकी तरफ पीठ करके उलटी तरफ मुँह करके ढोक देने लगता है। उसे कुछ पता ही नहीं है कि क्या करना है हमे? ऐसे ही जब किसी व्रती पुरुषको अपने भीतरी लक्ष्यका सही पता ही नहीं है कि मुझे क्या बनना है तो उसके देहकी क्रियाएँ, शोधकी क्रियाएँ और तपस्याकी क्रियाएँ ये किसलिए हो रही है, वह अधेरेमें है।

यथार्थ निर्णायकको ही तपस्यासे सिद्धि—भले हो क्रियावान् पुरुषको इस

तपस्यासे जो कि ज्ञानशून्यतामें हो रही है, कुछ पुण्यबंध तो इस तरह का है जैसे कि किसी थोड़ेसे भूखे पुरुषको खिला देनेसे भी बंध हो सकता है। कोई उस तपस्यासे विशिष्ट पुण्यका बंध न होगा। मुमुक्षुको सबसे पहिले अपना लक्ष्य निश्चित करना चाहिए। लक्ष्य यही है कि मैं एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हू। सब द्रव्योंसे न्यारा हू, स्वयंके ही स्वभावरूप हू, मैं सहज ही आनन्दमय हू, मेरा स्वरूप ही आनन्दसे रचा है। ज्ञानपुञ्ज मात्र ही तो मैं हूं, यह जैसे स्वरूप वाला है तैसा रह जाय, यही मेरी कामना है, यही मेरा लक्ष्य है। यह निर्णय जिसके हुआ है वह विधिपूर्वक तपश्चरण करता है।

मुमुक्षुका प्रताप और प्रकाश—यह मुमुक्षु पुरुष पहिले तो दीपककी तरह प्रकाशमान् हुआ है। जैसे दीपक तैल आदि सामग्री पाकर प्रकाशित होता है, घट पट आदिक बाह्यपदार्थोंको प्रकाशित करता है ऐसे ही ये सत शास्त्र ज्ञानका बल पाकर शास्त्रज्ञानकी सामग्रीसे इस समस्त विश्वको जीवादिक पदार्थोंको प्रयोजनभूत जान लेता है। सो पहिले यह कल्याणार्थी दीपक की तरह अपनी साधना बनाकर स्वपर प्रकाशक होता है, इसके बाद फिर सूर्य की तरह प्रतापवान होता है। जैसे सूर्य स्वभावसे ही अनेक पदार्थोंका प्रकाश करने वाला है और प्रतापका भी करने वाला है ऐसे ही यह आत्मा स्वभावसे ही नाना पदार्थोंका जाननहारा है और प्रताप, तपश्चरण, प्रतपन, प्रतापका भी करनहारा है। यों व्रती पुरुषको यह प्रथम चाहिए कि वह अपना ज्ञान सही और पुष्ट बनाये।

वस्तुस्वातन्त्र्यके अवगमसे आध्यात्मिक अपूर्व साहस—मैं जीव हू। अजीव से न्यारा हू। मेरा जो कुछ है वह मुझमें ही है, मुझसे बाहर किसी अन्य में मेरा परिणमन अथवा गुण नहीं पहुच सकता है। परकी गुण पर्याय उस परपदार्थमें ही है। परकी कोई बात मुझमें नहीं आ सकती। ऐसा मैं पूर्ण स्वतंत्र हू। ये समस्त पदार्थ भी पूर्ण स्वतंत्र हैं। किसीका किसी दूसरे पर अधिकार नहीं है, ऐसी स्वतंत्रताका जब ज्ञान होता है तब इसमें यह साहस बनता है कि मैं समस्त परपदार्थोंकी उपेक्षा करके केवल अपने आपके स्वरूपमें रत होकर कर्मोंका विध्वंस करूँगा। शरीरसे छुटकारा पाऊँगा, केवल ज्ञान मात्र रहकर शाश्वत आनन्दमय होऊँगा।

ज्ञानीका लक्ष्य—लक्ष्य बन गया है ज्ञानीका कि मुझे जीकर करना क्या है? बीचमें चाहे घर गृहस्थीके कारण अनेक काम करने पड़ें, फिर भी मेरा मूल लक्ष्य कभी विचलित न हो। मुझे बनना है केवल। मैं स्वयं स्वभावतः अपने सत्त्वसे जैसा हू, मात्र वैसा ही मुझे बनना है। यह लक्ष्य बना है ज्ञानी पुरुषका। इस लक्ष्यके अनुसार यह पुरुष अब ऐसी वृत्ति

ायेगा जिससे इस लक्ष्यकी साधना हो। वह त्यागकी ओर बढ़ेगा।
ो जो हो चुके हैं उनकी आराधना करेगा, जो अशरीरी बननेके यत्नमें
ो हुए हैं उनके सत्संगमें रहेगा। अपने आपको जैसे आत्मानुभवकी
ता रहे इस प्रकार बनायेगा। यों यह संयमी पुरुष पहिले दीपककी
ह प्रकाशित होता है और फिर इसी साधनाके बलपर फिर सूर्यकी तरह
पुन प्रकाश और प्रताप करके युक्त होता है। ज्ञानकी आराधना करना
येक कल्याणार्थीका कर्तव्य है।

निजगृद्धिके परका अनुरोध—जो बात सुगम है, स्वाधीन है, हमारे
येके आधीन है वह चीज तो आज संसारी प्राणियोंको दुर्गम लग रही
और जिस बात पर अपना अधिकार नहीं है जैसे घर बनाना, आरम्भ
ना, परिग्रह जोड़ना, धनसंचय करना—ये सारी परपदार्थोंकी परिणति
बातें अपने आधीन नहीं हैं वे इस जीवको बहुत सुगम लग रही हैं।
का पुण्योदयसे सम्बंध है। सो पूर्वकृत पुण्यके प्रतापसे यह वैभव आ
ा है, किन्तु इसमें जो अपना कर्तृत्व माने। मैं धन कमाता हूं तब आता
मैं इतना प्रयत्न करता हू तब आता है, ऐसी कोई भ्रमबुद्धि करे तो
पाप कमाता है। भ्रमसे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है? आगे
यह सम्पदा पाते रहनेका हकदार रहे और उस सम्पदासे भी मुक्त
र अलौकिक अनुपम सिद्ध सम्पदा प्राप्त कर लें, ऐसा यत्न रखना
हिए। न कि जो कुछ सम्पदा पहिले कमायी है उसे भी बरबाद कर दे
र अपनेको पापरूप बना ले, यह कर्तव्य नहीं है।

लौकिकस्थिति निरखकर श्रद्धानसे चलित न होनेका अनुरोध—आजके
युगमें लोग विचित्र कई बातें देखकर हैरान हो जाते हैं। जैसे कोई
न पहन खोटा व्यापार करते हैं। कषायी खाना खुलवा लेते हैं। मांस
दिककी दूकान करते हैं अथवा किसी बड़ी मिलेट्रीके लिए या अन्य
मार्गोंके लिए मास आदिका ठेका भी ले लेते हैं, इतने इतने कठिन कार्य
के भी वे मौजमें और धन सम्पन्न देखे जाते हैं। लोकमें उनकी इज्जत
होने लगती है। धन बढ़नेके कारण सभामें, समाजमें, गोष्ठीमें उन्हें
न स्थान दिया जाता है, ऐसी बातको देखकर श्रद्धानसे चलित होनेका
अवसर आता है। जो ऐसे कार्य करते हैं वे ही फलीभूत होते हैं यह
ा मनमें आशंका होती है और कितने ही पुरुष ऐसे देखे जाते हैं कि
कार्योंमें तो लगे हुए हैं और संकट विडम्बना विपत्तियां नई नई आती
ऐसे दृश्योंको भी निरखकर श्रद्धानसे चलित होनेका अवसर मिलता
किन हैरान होनेकी बात नहीं, गोम्मटसारमें इसीको कहते हैं। भला
ा, भांड़ा लगो, शरीर लगे, पड़ुवा लगे। किसी स्थितिमें भी चलित न

होना चाहिए। और इस सम्बन्धमें विशेष अन्य क्या विचार करें? सीधा यही विचार करके देख लो कि जब हम किसी परपदार्थकी ओर अपना चित्त देते हैं, मोह करते हैं, तृष्णा बढ़ाते हैं तब की परिणति देख लो और परपदार्थोंसे उपेक्षा करके जब हम केवल ज्ञानस्वरूप निज अतस्तत्त्वका चिन्तन करते हैं तबकी स्थिति देख लो। यहाँ शान्ति है और उस संचय आदिक बुद्धिमें अशान्ति है। अतः दुनियाकी प्रवृत्तियों निरखकर हमें श्रद्धानसे विचलित न होना चाहिए।

आनन्दका उपाय—धर्मका फल शान्ति है और शाश्वत शान्ति है। नियमसे शान्ति ही फल है धर्मका। धन मिलकर आनन्द मिला तो क्या, धन न मिलकर आनन्द मिला तो क्या। तुम्हें धनी कहलानेकी इच्छा है या आनन्दमग्न रहनेकी इच्छा है? पहिले यही निर्णय करलो। धनी होनेकी इच्छा तृष्णाके मूलसे उत्पन्न हुई है और इसी कारण उस प्रसंगमें नियमसे अशान्ति ही भोगनी पड़ती है, किन्तु ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप धर्म पालनसे इस जीवको नियमसे शान्ति मिलती है, आज यह पुरुष धन संचयकी होड़में लग रहा है, पर यह तो जो लखपति करोड़पति भी हैं वे क्या खाते हैं, वे कैसे अपना पेट भरते हैं, और जो उनमें हजारपति हो हो वे भी और क्या करते हैं? काम तो जीवनके लिए इतना ही है कि क्षुधा शान्त हो जाय, प्यास शान्त रहे। जीवनके लिए इतना ही आवश्यक है; फिर अन्य और विडम्बनाओंके लिए क्यों बढ़ा जाय? यों कहो कि वे ही दो रोटियां हैं। साधारण स्थितिमें रहकर खाया तो, बड़ी स्थितिमें रहकर खाया तो।

परिग्रहका क्षोभ—भैया! यह सब बड़ा गोरखधंधा है। ये सब दृश्यमान दृश्य इनके प्रति लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि ये सब न हो तो जीवन कैसे चलेगा? महत्त्व देना चाहिए था शान्तिको, आत्महितको, पर महत्त्व दे रक्खा है परिग्रहको। परिग्रहके सम्पर्कमें अशान्ति ही भोगनी पड़ती है। एक तो परिग्रही पुरुषको चोर डाकुवोंका भय सताता रहता है। जब चित्तमें एक शंका समा गयी तो अब सुख कहाँसे हो? खैर ये बाहरी उपद्रव भी न हों तो भी सरकारके कानून टैक्स आदिकसे इसे विपन्न रहना पड़ता है। खैर इसका भी कष्ट न हो तो इस कष्टको तो कोई मिटा नहीं सकता कि बाहरी पदार्थोंके प्रति इसका जो उपयोग लगा, उसकी दृष्टि लगी, उस दृष्टिके कारण जो क्षोभ होनेको है वह होता है स्वयं। इसे कौन मेटेगा?

शान्तिके यत्नमें शान्तिकी नियतता—शान्तिको कोई चाहे और शान्ति मिले नहीं, यह हो नहीं सकता। शान्तिका नाम तो रक्खो कि मुझे

ान्ति नहीं चाहिए, पर चित्तमें वह अशान्तिका रूपक ही बसा हुआ है, मुझे ऐसा करना है, ऐसा होता है, इसमें शान्ति मिलेगी, तो अशान्ति ही चाही उसने, शान्तिको नहीं चाहा। अशान्ति चाही तो अशान्ति ही मिलेगी। हमारा ज्ञान अति स्पष्ट रहना चाहिए। मुझे क्या बनना है? मुझे कुछ बनना नहीं है, बनना परकी बात नहीं है। मैं जैसा हूं तैसा ही मुझे होना है। मैं अकेला केवल अपने आपके स्वरूपसे कैसा हूं, इस पर दृष्टि तो डालो। ऐसे शरीर वाला नहीं। ऐसे रागादिक कषायों वाला नहीं, किन्तु एक मात्र ज्ञानज्योति स्वरूप हूं। मुझे केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है। उपयोग में रागकी तरंग, मोहकी वासना, कषायोंकी ज्वाला ये सब इसके लिए विपदा हैं, विडम्बना हैं। मुझे ये सब कुछ न चाहिए, ऐसी लगन बने, बाहरी पदार्थोंसे उपेक्षा जगे तो इसमें शान्ति अवश्य प्रकट हो सकती है।

मोहमत्तकी भ्रमणा—सबसे पहिले इस कल्याणार्थी पुरुषको सम्यग्ज्ञानी बनना चाहिए। कोई पागल मुँह उठाये और चल दे। उसका कुछ लक्ष्य ही नहीं, मुझे कहां जाना, क्या करना, क्या पाना, उसकी कुछ दृष्टि में ही नहीं है, सो जैसे वह पागल भटकता रहता है, ऐसे ही यह मोहका पागल पुरुष जिसने सही लक्ष्य ही नहीं बना पाया, इस मनुष्यभवसे होकर मुझे क्या करना चाहिए? यह निर्णय जिसके नहीं हो सका वह पागलकी नाईं मुँह उठाकर कभी इस विषयकी ओर लगेगा, कभी उस विषयकी ओर लगेगा, कभी मनकी कल्पनामें बढ़ेगा। यों अनेक विडम्बनाएं पाते हैं पागल पुरुषकी नाईं, किन्तु वे अपने आपके सही धामको नहीं प्राप्त कर सकते।

संसारके व्यामोहमय व्यवहारसे निवृत्त होनेका सन्देश—सर्व प्रथम हमें शुद्ध ज्ञानी होना चाहिए। यहां संसारके व्यवहारमें क्या रुचि करना? किसीने प्रशंसाके शब्द कह दिये, कुछ बड़ाई कर दी तो क्या है यह? मैं भला मानूं तो मैं भी अज्ञानी। और जो प्रशंसा कर रहा है, भला कह रहा है वह भी प्रायः मोहवश कह रहा है। तो यहां इस प्रकारका परस्पर का मेल हो जाता। जैसे कि ऊँटोंके ब्याहमें गधे गीत गाये। गधे तो गा रहे हैं धन्य हो ऊँट राजा, तुम बड़े सुन्दर हो, बड़े सुडौल हो। अब बताओ सुडौल उनमें क्या है? सारे अंग तो उनके टेढ़े मेढ़े होते हैं, पर गधे गीत गाते हैं, तो ऊँट भी प्रशंसा कर डालते हैं, धन्य हैं गधेराज! तुम्हारा स्वर, तुम्हारी ध्वनि बड़ी सुन्दर है। ऐसा ही यहांका परस्परका व्यवहार है, इसमें कहां संतोष किया जाय? हमारी जिम्मेदारी हम ही पर है। दूसरे पुरुष चाहे कितने ही प्रेमी हों, कितना ही हमें चाहते हों, पर

मेरे भविष्यकी जिम्मेदारी दूसरे पर नहीं हो सकती, मुझ पर ही होगी। विषय कषाय व्यवहार मित्रता प्रेम, इन सब बातोंमें पड़कर अपने आपके इस शुद्ध लक्ष्यको न छोड़ें। अगर अपनी इस शान्तिके लक्ष्यसे चलित हो गए तो कुछ भी चेष्टा करें। वे सब चेष्टाएँ पागल पुरुषोंकी तरह ऊटपटांग ही रहेंगी। उनसे कोई सिद्धि न हो सकेगी।

ज्ञानी गृहस्थका ज्ञानबल—एक गृहस्थ जिसने अपना लक्ष्य पा लिया है एक मात्र मलकर्मे, जैसा यह आत्मा स्वयं है तैसा ही ज्ञानमें आ गया है, तो यह ज्ञानी पुरुष गृहस्थ महानुभाव घरके बीच रहता हुआ भी रात दिनमें बराबर उस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका स्मरण करके यह अपनेको आनन्दमग्न बनाये रहता है। कुछ गड़बड़ी हो जाय, धन नष्ट हो जाय तो यह चिन्ता न करेगा। जैसा होता है होने दो, वह परपरिणति है। उसपर मेरा अधिकार नहीं, अथवा ऐसा हो गया तो इससे भी कुछ मेरा बिगाड़ नहीं। ज्ञानियोंके साहस रहता है। यह ज्ञानका ही तो बल है।

आत्मबल विकासका कर्तव्य—भैया! बाह्य पदार्थोंसे आत्मामें बल नहीं आया करता है। अपने आपके विशुद्ध ज्ञानसे अपनेमें बल प्रकट हुआ करता है। अपनी जिम्मेदारी समझकर हमें यथार्थ ज्ञानी बनना चाहिए। यथार्थ ज्ञान होने पर फिर क्षोभ नहीं आता, कुछ भी गुजरे। यों संयमी पुरुष तो ज्ञान प्रधान हुआ करता है। पश्चात् फिर तपश्चरण करके प्रतापवान् होता है। हमें सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी चाहिए। तत्त्वचर्चा करके, उपदेश सुनकर, अध्ययन करके हर एक सम्भव उपायोंसे हमें अपने आपका और विश्वका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। फिर परसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपमें मग्न होना चाहिए।

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन् कर्मकज्जलम् ॥१२१॥

ज्ञानीकी वृत्ति और निवृत्तिकी दो कलायें—जैसे दीपक देदीप्यमान होता हुआ कज्जलको उगलकर स्व और परका प्रकाश करता है इस ही प्रकार यह ज्ञान और चारित्र देदीप्यमान होता हुआ ज्ञानी कर्मोंको उगलता हुआ स्व और परका प्रकाश करने वाला होता है। यहाँ अलंकार में यह बताया है कि दीपकमें दो गुण हैं—एक तो वह स्व परका प्रकाश करता है और दूसरे कज्जलको अलग फेंकता है। ऐसे ही ज्ञानी जीवमें दो कलाएँ हैं एक तो वह स्व परका प्रकाशक रहता है और दूसरे कर्मोंको अलग फेंक देता है

कर्मका कज्जल—कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक भावकर्म दूसरा

द्रव्यकर्म। इससे कर्म नाम असलमें भावकर्मका है। द्रव्यकर्ममें कर्म नाम उपचारसे किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्यकर्ममें रूप नहीं है, जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन किया है। द्रव्यकर्म उस प्रकृतिको रखता है स्थिति, प्रदेश, अनुभाग सब कुछ हैं, किन्तु कर्मशब्दका जो वास्तवमें अर्थ है उस अर्थ पर दृष्टि दें तो कर्म नाम तो भावकर्मका साक्षात् है। कर्मका अर्थ है क्रियते इति कर्म। जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। जीवके द्वारा जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। जीवके द्वारा शुभ अशुभ भाव किए जाते हैं। ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक कर्मोंको यह जीव नहीं करता है, क्योंकि वे भिन्न पदार्थ हैं, आत्मा भिन्न पदार्थ है। आत्मा तो अपने भावोंको करता है। इस व्याख्यासे कर्म नाम रागद्वेष सुख दुःख शुभ भाव, अशुभ भाव इनका हुआ। अब इन शुभ अशुभ भावोंका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणावोंमें प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग बनता है सो कार्माणवर्गणामें प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभागका रूप परिणमन होनेके परिणमनसे परिणत कार्माणस्कंधोंका कर्मनाम उपचारसे किया गया है। कर्म नाम जो रक्खा गया है उसकी बात कही जा रही है।

यह जीव अपने ज्ञान और चारित्रसे भास्वर होता है अर्थात् आत्माका जो सहजस्वभाव है उस स्वभावका बोध करना और उस स्वभावमें रत होना। जब ऐसी परिणतिसे परिणमता है त[illegible] ज्ञानी आत्मा इन रागद्वेषादिक कर्मोंका वमन करता हुआ स्वपरका प्रकाशक होता है। जगत्के जीव हम आप व्यर्थमें हैरान हो रहे हैं। हैरानीका कोई ऐसा जबरदस्त किसीके द्वारा कारण नहीं थोपा जा रहा है। यह मैं आत्मा तो स्वयं केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे ऐसे स्वभावको रखता है। केवल जानन देखनमें इस जीवका कोई बिगाड़ नहीं है, पर इस स्वभावको जब हम नहीं मानते, हम अपने आपके सहजस्वरूपका विश्वास नहीं रखते तो व्यग्रताएँ होना, आकुलताएँ होना यह सब होता ही है। यों अपनी भूलसे बड़ा ही धोखा खाकर जगजालमें रुलते चले आ रहे हैं। किसी भी क्षण ऐसा साहस करलें कि जब मेरा लोकमें परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है तो मैं अणुमात्रको भी अपने उपयोगमें क्यों स्थान दूं? ऐसा केवल सहजस्वभावरूप अपनेको निरखा जाय तो वह सब कला, जिसके कारण ये रागद्वेषादिक कर्म ध्वस्त हो जाते हैं, प्रकट हो जायेगी। जो आँखोंसे दीखा इसे ही सारभूत मान लिया। जो दीखा वे सब परवस्तु हैं, अपनेसे भिन्न हैं, उनका मेरे इस आत्मामें ग्रहण भी नहीं होता। केवल एक कल्पना करके यह राजी हो रहा है। पर इसे वहाँ सार सुख हित कुछ नहीं मिलता। यों स्वयं ही अपने आपको भूलकर हम दुःखी होते हैं।

भ्रममें पराधीनता व ज्ञानमें स्वतन्त्रता—जैसे बन्दर एक घड़े में भरे हुए लड्डुओंको ग्रहण करने के भावमें घड़ेमें हाथ डालकर लड्डुओंको पकड़ ले तो पहिले तो खाली मुट्ठी ही बाँधे तब भी इस हाथका विस्तार बढ़ जाता है और लड्डूको पकड़ ले तो और अधिक विस्तार हो जाता है। लड्डू पकड़कर हाथको निकालना चाहता है और उन लड्डुओंको खाना चाहता है, मगर हाथ नहीं निकलते। तब बंदरको यहा कुज्ञान जगता है कि मेरे हाथोंको इस घड़ेने पकड़ लिया है, बस वह दौड़ता है, चिल्लाता है पर छूटता नहीं है उस घड़ेसे। ऐसे ही ससारी प्राणी अपने उपयोगरूपी हाथसे इन पञ्चेन्द्रियके विषयरूप लड्डुओंको पकड़ लेते हैं ग्रहण कर लेना चाहते हैं, पराधीन हो गये ना अब? किसी परजीवसे स्नेह लगाया तो आधीनता आती ही है। अब पराधीन हो गये और इस पराधीनताके कारण इसे अनेक कष्ट सहने पड़ रहे हैं, पर यह जीव नहीं जान रहा है यह कि मैं स्वय ही स्वतत्रतासे विचार बनाकर परके आधीन होकर दु खी हो रहा हू, जैसे वह बंदर यथार्थ रहस्य जान जाय और उन लड्डुओंसे तृष्णा त्याग दे, मुट्ठी खोल दे, खाली हाथ निकाल ले तो अब भी स्वतत्र है, छूटा हुआ है, ऐसे ही यह जीव पर वस्तुओंका ग्रहण करना छोड दे। सबसे निराले अकिञ्चन इस ज्ञानस्वरूपको निरखकर समस्त परसे अपने उपयोगको हटा ले तो यह अब भी आनन्दमय हैं, दु ख कहाँ है?

मोही मानवोंमे दु खोंकी होड—जैसे एक मनुष्य दूसरोंको देख रहा है कि ये सब लोग अपने शरीरको लिए हुए अपने मनको लिए हुए बैठे हैं इनको कोई तकलीफ नहीं है। दूसरे की शकल मुद्राको निरखकर हम ऐसा जानते हैं कि यह बड़ा सुखी है· इसे कोई दु ख ही नहीं है। कोई पीट भी नहीं रहा, कोई चीज आकर इसमे प्रवेश नहीं कर रही। यह तो अच्छा है, ऐसा दिखता है, लेकिन प्राय· सभी जीव अपने ही मनमें अपने ही मनसे कुछ न कुछ गु'तारा लगाकर दु खी हो रहे हैं। एक कुटेव पड़ गयी है ना। कितना ही उसे आराम हो, कितने ही साधन मिलें, पर यह उनमें सन्तुष्ट ही नहीं रहना चाहता। बहुत आराम होने पर भी योग्य साधन होने पर भी चित्तमें एक कल्पना भर ही तो जगती है कि मुझे यह सब कम हैं, मुझे तो और और भी साधन चाहिएँ। अरे मेरा अमुक यह साधन मिट रहा है कुछ ऐसी कल्पना जगी कि यह दु खी होने लगा।

आकिञ्चन्यभावनासे परके आकर्षणका अभाव—अहो, इस प्राणीको उस दिनकी याद नहीं आती, उस भविष्यके दिनकी कि किसी दिन यहाँसे सब कुछ छोड़कर जाना पडेगा। लोग इस बचे खुचे शरीरको ले जाकर

शीघ्र जला देंगे। यह मैं अकेला का ही अकेला अछूता सीधा चल दूंगा, न भाई मुझे रोक सकेंगे, न माता पिता आदि कोई मुझे रोक सकेंगे। सब को छोड़कर यह मैं आत्मा यहाँसे चला जाऊँगा। उस दिनकी याद यह अभीसे ही करले तो इस पद्धतिके ज्ञानसे भी इसे शान्तिका मार्ग मिल सकता है। वास्तविक सन्तोष तो अपने को अकिञ्चन माने बिना नहीं आ सकता है। मैं क्या हू, कितना हू, यह दृष्टिमें रहे तो इसे संतोष होगा। मैं ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं समस्त परपदार्थोंसे निराला त्रिकाल भिन्न हू—ऐसा भान हुए बिना सब परपदार्थोंकी ओरसे आकर्षण मिट नहीं सकता।

निजभावके रमणमे सन्तोष—एक बच्चा दूसरे बच्चेके हाथमें खिलौना देखकर रोने लगता है। रोने वाले बच्चेकी मां उसे डाटती है, अबे रोना बंद नहीं करता। तुझे मैं पीट दूंगी। कुछ पीट भी देती है, पर वह बच्चा रोना बंद नहीं करता। उसे तो अपना चित्त रमानेके लिए खिलौना चाहिए और यह मां पीटकर उसका रोना बंद कराना चाहती है। तो क्या दूसरे बच्चेका खिलौना छुड़ा कर दे दे? उसमें तो और बड़ी विडम्बना बनेगी, फिर तो बड़ों बड़ोंमें लड़ाई हो जायेगी। उपाय उसका यह है कि उस ही बच्चेका खिलौना जहाँ हो या नया लेकर उस बच्चेका खिलौना उसे सौंप दे, ले यह है तेरा खिलौना। दूसरेके खिलौनेको देखकर मत रो, बस उसे चाहिए क्या था? अपना चित्त रमाने के लिए अपने अधिकारका खिलौना। मिल गया खिलौना शान्त हो गया। ऐसे ही हम आप बालक अज्ञानी जगतके दूसरे प्राणीके खिलौनों को देखकर, उनका वैभव, उनकी इज्जत, उनका प्रताप निरखकर रोते हैं। इस रोनेको कौन मिटाये? क्या यह वशकी बात है कि दूसरेका खिलौना जड़ पौद्गलिक मेरे साथ लग जाय। उस समय केवल एक यही उपाय है तू अपना स्वाधीन खिलौना पा ले। यहाँ परकीय खिलौने पर तो अधिकार ही नहीं है। तेरा खिलौना है उस निर्विकार विशुद्ध सहज ज्ञानज्योतिका अनुभव। इस खिलौने में यह चित्त रम जायेगा, यह उपयोग रम जायेगा और इसका यह सारा रोना परवस्तुवों को निरखकर उनकी तृष्णाका यह रोना गाना सब दूर हो जायेगा।

कर्मकज्जलका प्रोद्वमन—यह ज्ञानी पुरुष इन रागद्वेष आदिक कर्मोंका वमन करता हुआ दीपककी तरह स्वपरप्रकाशक बन रहा है। जैसे वमन की हुई चीज फिर ग्रहण नहीं की जाती। किसी को कै हो जाय तो कै होने के बाद पेट खाली हो जायेगा, थोड़ी देरमें भूख लगने लगती है। तो उस ही कै को कौन खा लेता है? उस ओर तो कोई दृष्टि भी नहीं देता।

उस कै को तो राखसे ढक दिया जाता है। जैसे वमनकी हुई चीज फिरसे ग्रहण नहीं की जाती, ऐसे ही ज्ञान द्वारा रागद्वेष सुख दुःख आदिक वैभवों का वमन कर दिया, यह मेरा नहीं है, मेरे से भिन्न है, विभाव है, औपाधिक भाव है, मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा ज्ञान करके अपने स्वरूपमें से निकाल दिया, वमन कर दिया तो अब यह ज्ञानी फिर उन रागद्वेष आदिक विभावों को यह मेरा स्वरूप है, इस रूपसे ग्रहण नहीं करता है।

ज्ञानीकी भास्वरता—यह ज्ञान आराधनाका प्रकरण है। आचार्यदेव इस ज्ञानस्वरूप निजस्वभावकी आराधनाके लिए उपदेश दे रहे हैं। देखो जैसे दीपक दीप्ति सहित भास्वर होता है, प्रकाशमान होता है और कज्जल का वमन कर देता है, ऐसा होता है तब वह घट पट आदिक पदार्थोंको प्रकाशित करता है। ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष ज्ञान और चारित्रसे सहित होकर देदीप्यमान होता है और रागद्वेष आदिक भावकर्मोंका वमन कर देता है और उसके ही प्रतापसे द्रव्यकर्मका भी परिहार कर देता है। ऐसा होकर यह ज्ञानी अपने को और परपदार्थोंको यथावत् जो जैसा है उस प्रकार जानता है।

यह जीव इस ज्ञान आराधनाके फलसे जैसे कि शास्त्रज्ञान होता है, विवेक जागृत होता है उससे वह ज्ञानी पुरुष अब क्या करता है, इस विषय को अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसन्ध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥१२२॥

शुद्धोपयोगकी सिद्धिका क्रम—यह जीव आगमके ज्ञानसे निर्णय कर लेता है कि ये सभी परिणाम त्यागने योग्य हैं और फिर जो अशुभ-परिणामों को त्यागता है वह जीव शुभ परिणामोंमें आ रहा है और पश्चात् यह शुभ परिणामोंको त्याग कर शुद्ध परिणमनरूप हो जायेगा। किसी भी जीवको शुभ परिणामके बाद शुद्ध परिणाम नहीं होता है। अशुभोपयोगके बाद ही, अनन्तर शुद्धोपयोग अब तक भी किसीके प्रकट नहीं हुआ। विधि ही यह है कि अशुभोपयोगका परित्याग हो, शुभोपयोगमें आ जाय और फिर उस शुद्ध स्वरूपकी भावनाके प्रतापसे यह शुभ परिणमन भी दूर हो जाय, केवल ज्ञाता दृष्टा रहने रूप शुद्ध परिणमन हो। यों अशुभोपयोगके बाद शुभोपयोग आता है, पर शुभोपयोगमें जो न रमे उसे ही शुद्धोपयोग मिलेगा। जो शुभोपयोगमें रम गया उसे शुद्धोपयोग कैसे प्रकट हो? जैसे सूर्यके आगे अंधकार नहीं ठहरता, इसी तरह ज्ञान उत्पन्न होने पर यह जीव शुभ अशुभ भावोंको त्याग कर शुद्धोपयोगकी दशाको प्राप्त

होता है। अर्थात् इसमें अज्ञान अब उत्पन्न नहीं हो रहा है। अशुभोपयोग का त्याग करना, शुभोपयोगका आलम्बन लेना, शुद्धोपयोगका लक्ष्य रखना और शुभोपयोगसे भी निवृत्त होना यह सब आत्महितकी सिद्धि करने की सामर्थ्य इस ज्ञानकलावान पुरुषमें प्रकट हो जाती है। हम सबका एक ज्ञान ही रक्षक है।

ज्ञानगुणकी गम्भीरता— देखिये—इस ज्ञानगुणकी विशेषता, यह ज्ञान कितना गम्भीर और उदार है? इस ज्ञानगुणके किसी भी परिणमनके कारण जीवके कर्मबंध नहीं होता। थोड़ा ज्ञान जिसे है, बहुतसा ज्ञान जिसका ढक गया है: एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जिस जीवके जितना ज्ञान प्रकट हुआ है वह सब ज्ञान, सब जीवों का बध नहीं करता। ज्ञानकी किसी भी प्रकारकी अवस्था संसारमें नहीं रुलाती, किन्तु श्रद्धा और चारित्र इनका जो विकार है, मिथ्यात्व हो गया यह श्रद्धाका विकार है। कषायें हो गयीं यह चारित्रका विकार है। इस श्रद्धा और चारित्रके विकार ससारमें जीवको रुलाते हैं। ज्ञान कितना भी प्रकट हो, कितना भी ढका हो, ज्ञानकी कोई स्थिति इस जीवको बध नहीं कराती। जब कभी ज्ञानकी कमीकी हालतमें या कुज्ञानकी स्थितिमें जीवका कर्मबन्ध होता है वह मिथ्यात्वके कारण कर्मबंध हो रहा है, ज्ञानके कारण नहीं हो रहा है। ज्ञान तो स्वभावसे ही ज्ञानरूप है। वह न सम्यक् होता और न मिथ्या होता। पर मिथ्यात्वके उदयसे ज्ञान भी मिथ्यात्व कहलाता है और सम्यक्त्वके प्रकट होने से ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है।

ज्ञानालम्बनका कर्तव्य——भैया! जो ज्ञान इतना गम्भीर है उस ज्ञानका आलम्बन ले कोई, तो उसे सच्चा शरण मिलता है। ज्ञानका शरण कभी धोखा नहीं दे सकता। हम आप सुखी होनेके लिए बाहरी वैभवका शरण पाना चाहते हैं, ढूँढ़ना चाहते हैं, पर इन बाह्यपदार्थोंकी शरण हमें अनाकुल नहीं कर सकती। हम अपने ही इस शुद्ध सहज ज्ञानका शरण लें, वस्तुस्वरूपको जानकर इसही परम स्वभावरूप अपनी प्रतीति करें और इन विभावोंसे दूर होकर शाश्वत आनन्द पायें, अपनी शरण लें, अपने ज्ञानकी ओर झुकें। इसमें ही हमारा सर्व अभ्युदय है।

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥

शुभरागका अभ्युदयमें सहयोग——जिस जीवका अज्ञान अधकार दूर हो गया है उस जीवका कभी कुछ काल तक राग उठता है तो तपस्यामें, ज्ञानमें सयममें इन शुभकार्योंमें राग होता है। सो उस ज्ञानी पुरुषका यह राग उसके उत्थानके लिए है। जैसे कि सुबहके समयमें जो प्रभातकालीन लालिमा

होती है, सूर्योदयसे पहिले जो पूर्व दिशा लाल हो जाती है वह लालिमा जैसे सूर्यके उदयके लिए होती है, उत्थानके लिए होती है इसी तरह ज्ञानी पुरुष की लालिमाराग उसके उत्थानके लिए होता है।

मोहीका स्पर्शराग— जिस जीवके मोह बसा हुआ है उसमें राग होगा तो विषयके साधनोंसे होगा। तप, नियम, संयम ये तो इष्ट ही नहीं होते। इन्द्रियां ५ प्रकारकी हैं और उनके विषय जुदे-जुदे हैं, अतएव विषय भी ५ होते हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है और स्पर्श ८ प्रकारका होता है— रूखा, चिकना, ठंडा, गरम, कड़ा, नरम, हल्का, भारी। स्पर्शन इन्द्रिय इन ८ प्रकारके स्पर्शोंमें रमती है।

मोहीका रसराग— रसना इन्द्रिय खट्टा, मीठा, चरपरा, कडुवा, कषायला, इन ६ रसोंमें रमती है। कभी खट्टा रस पसंद आता है। नीबू कितना खट्टा होता है, पर नीबूका रस इसे स्वादिष्ट लगता है और नीबूसे भी कम खट्टी दाल वगैरह कोई चीज हो जाय तो वह नहीं सुहाती है। जैसे करेला कितना कडुवा होता है, मैथी कड़वी होती है, वह सब सुहा जाती है, उस ओर संकल्प है और कदाचित् कोई तुरई जरा सी भी कड़वी निकल जाये तो वह नहीं सुहाती है। पहिलेसे सोच लिया ना कि करेला तो कड़वा होता ही है और उसका साग इस प्रकार लाभ देता है, ऐसा सुन रखा है तो उसे करेला पसंद हो जाता है, पर उससे भी कम कड़वी अन्य चीज नहीं पसंद होती है। यह सब संकल्प पर आधारित है। किसी को मीठी वस्तु स्वादिष्ट लगती है तो किसीको मीठी वस्तु नहीं रुचती है। चरपरी वस्तु भी खानेमें दु खद होती है। सी-सी की आवाज भी करते हैं, आंखोंसे आंसू भी गिरते जाते हैं, पर लालमिर्च मांगते जाते हैं कि मुझे और लावो लालमिर्च। तो सुहानेकी बात देखो जीवोंकी। मोहमें किस-किस तरहके शौक और राग हुआ करते हैं। आवला कितना कषायला होता है पर जानते हैं इसकी तो फलकी प्रकृति ही है, यह लाभकर है, वह सुहा जाता है, अभी पीतलके बर्तनमें कोई चीज रखी हो और वह कषैली बन जाय तो वह नहीं सुहाती है। तो इस जीवको इन इन्द्रियके विषयोंमें विचित्र राग पड़ा हुआ है।

मोहीका गन्धराग— घ्राण इन्द्रियका विषय है सुगंध, दुर्गंध लेना। इसे सुगंध सुहाती है और दुर्गन्ध नहीं। पर कोई जीव ऐसे हैं कि उन्हें दुर्गन्ध सुहाती है और सुगन्ध नहीं सुहाती है। आप लोग सोचते होंगे कि ऐसे कौनसे जीव होते हैं जिन्हें दुर्गन्ध सुहाती है और सुगन्ध नहीं सुहाती है। भले ही पशु पक्षी ऐसे हो जायें पर मनुष्योंको तो सुगन्ध सुहाती है दुर्गन्ध नहीं सुहाती है अरे ढीमर ढोमरनी मछली पकड़ने वाले लोग

जो कि मछलीकी वासमें ही रहते है उनकी ऐसी प्रकृति है कि उन्हें मछलियोंकी वास सुहाती है और सुगन्धित पुष्पोंकी महक नहीं सुहाती है। अगर उन्हें कभी सुगन्धित पुष्पों वाले बागमें सोना पडे तो नींद नहीं आती। कितनी विचित्रता है जीवोंकी, कोई सुगन्धमें मस्त है, कोई दुर्गन्धमें।

मोहीका रूपराग— चक्षु इन्द्रियका विषय है रूप। अब बतलावो दूर रहने वाली किसी चीजका रूप दिखनेमें आ गया, वह रूप पकड़नेकी चीज तो है नहीं कि हाथोंसे पकड़कर रूपको रख लें या रूपको कहीं ले जावें, ऐसा तो कुछ है नहीं, वह तो एक बाहरसे दिखने भरकी वस्तु है। रूप और किसी काम नहीं आता। न रूपमें स्वाद है, न गध, सुगन्ध है, न रूप पकड़मे आता है, केवल बाहरमें निरखते जावो। पर यह जीव ऐसा व्यामोही है कि जिस कामसे कोई लाभ भी नहीं निकलता, व्यर्थका समय खोना है वह काम इसे सुहावना लगता है। तो चक्षु इन्द्रियका विषय है रूप।

मोहीका शब्दराग— कर्ण इन्द्रियका विषय है शब्द। कोई बहुत सुन्दर राग रागनीका शब्द सुननेमें जाये तो यहाँ क्या लाभ हो गया? कोई शरीरको स्वस्थ बनाये या धर्ममें बढ़ाये, ऐसा कुछ भी तो नहीं होता। बल्कि उन गीत सगीतोंमें धनकी हानि है, समयकी हानि है, उपयोगकी हानि है और वहां कोई बुरी शिक्षा ग्रहण करले तो भविष्य भी खतरेमें है। लेकिन इस जीवको वह सुहाता है। मजदूरी करने वाले भी व्यक्ति दिन भरमें १ रु० कमा पाये। खानेमें भी कमी करके और नहीं तो तीन आनेका टिकट ही सही, लेकर सिनेमा देखने जायेंगे। सिनेमाघरमे जितनी सख्या गरीबोंकी मिलेगी उतनी अमीरोंकी नहीं। क्या करें वह विषय है, उनसे नहीं रहा जाता। उनमें ही वे अपना दु:खसे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें उस दु:खको दूर करनेका यही एक साधन जँचा है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी रुचि— इन्द्रियोंके विषय आत्माको कोई लाभ नहीं देते, किन्तु यह जीव उन ही विषयोंके आधीन हो रहा है। जो पुरुष विषयोंके आधीन है उन्हें विषयोंके साधन ही सुहायेंगे। जो लोग विषय साधन जुटा दें, ऐसे पुरुषोंमे ही उनका चित्त लगेगा। उनका चित्त धन वैभवमें लगेगा। यों जीवन असयममें बीतेगा। किन्तु जिसने सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको परखा है और अपने आत्माके अनुभवका आनन्द लिया है उनका राग विषयोंमें न जायगा। वे तो उनसे छूटकर ऊपर उठे हुए हैं। ज्ञानी पुरुषोंका राग सत्सगमें होगा। तपस्यामें ज्ञानके अर्जनमें होगा। ज्ञानी पुरुषोंको ज्ञानभावसे अत्यन्त अधिक प्रीति होती

है। वे अपने जीवनमें सबसे अधिक महत्त्व ज्ञानको देते हैं। जबकि मोही अज्ञानी प्राणी विषयभोगोंके साधनोंको अधिक महत्त्व देते हैं, उनकी ही वृद्धि करते हैं, उनसे ही अपना बड़प्पन मानते हैं। लोगोंके बीचमें बड़ी टसकके साथ अपना मान दिखाते हैं। ये सब बातें एक अज्ञान अवस्थामें होती हैं। जिनके अज्ञान अंधकार दूर हो गया है उन पुरुषोंका राग तपस्यामें और ज्ञानमें होता है। यह राग उस जीवका उत्थान कराने का कारण है।

अपने आपकी सभालमें राग— इस जीवकी सम्पदा एकमात्र ज्ञान है। ये बाहरी चीजें बाहर ही पड़ी हैं। कुछ लोकव्यवस्थामें उनपर अपना अधिकार समझा जाता है। वस्तुतः किसी भी परद्रव्य पर अपना अधिकार नहीं है। अपना अधिकार अपने आपकी सभालमें है। अपने आप को संभाल लो, विवाद समाप्त होगा। जैसे घरका और पड़ौसीका बच्चा लड़ जाय तो कोई बुद्धिमती मा उस लड़ाईके प्रसगमें दूसरेके बच्चेको नहीं मारती कि तूने मेरे बच्चेको क्यों पीटा, किन्तु अपने बच्चेको मारती है, तू वहाँ खेलने क्यों जाता है? जो बुद्धिमती मा है वह अपने बच्चे को डाटेगी, दूसरेके बच्चेको न मारेगी। वह जानती है कि दूसरेके बच्चे पर मेरा क्या अधिकार? यदि उस दूसरे बच्चेको डाटेगी, पीटेगी, मारेगी तो उससे लड़ाई बढ़ेगी। उसमें खुदकी बरबादी ही होगी।

अनधिकारकी घटना— भैया! एक ऐसी घटना हुई भी थी कि कोई एक गरीब पड़ौसिन थी और पासमें ही एक सेठकी हवेली थी। सेठके लड़केमें और उस पड़ौसिनके लड़केमें परस्परमें झगड़ा हो गया तो सेठानीके लड़केने उस पड़ौसिनके लड़केको डाटा, पीटा, मारा। इस बात को देखकर उस पड़ौसिनके मनमें आया कि जब तक इस सेठानीके लड़के को मार न डालूंगी तब तक मुझे चैन नहीं है। इस घटनामें उसने दो दिन नहीं खाया। भोजन उसके मुँहमें न जाय। अब क्या उपाय रचे वह सो उसने कुछ मिठाई खिलानेका लोभ दिया सेठानीके लड़केको। वह सेठानीका लड़का उस पड़ौसिनके घर आ गया। उसने मिठाई खिलायी और उस लड़केका गला घोटकर उसे मार डाला और कहाँ ले जाय उसे, तो अपने ही घरके आंगनमें गड्ढा खोदकर उसे गाड़ दिया। अब ढुंढवा पड़ा सेठके लड़केका। खुफिया पुलिस आयी। होते-होते आखिर पता पड़ गया कि इस पड़ौसिनने मारा है। गिरफ्तार किया गया। जब बयान हुआ तो उस पड़ौसिनने साफ साफ बयान दिया कि सेठानीके लड़केने मेरे लड़केको मारा, सो मुझे इतनी बेचैनी हो गयी कि दो दिन तो मैंने खाना नहीं खाया। आखिर उस बेचैनीको दूर करनेका एक ही उपाय

सुभा। तब उस लड़केको मारकर ही मैंने चैन पाया।

मन.संयमनकी शिक्षा— तो जैसे व्यवहारमें पड़ौसीके बच्चेमें और अपने बच्चेमें लड़ाई होनेपर अपने ही बच्चेको डाटा जाता है, दूसरेके बच्चेको नहीं, तू वहा क्यों खेलने गया· अनेक प्रकारकी डाट दिखायी जाती है, ऐसी ही जितनी विपदाएँ आ रही हैं उन सब विपदाओंका आधार, इन कष्टोंके पानेका अपराध इस जीव पर खुदका है। इसे अपने मनको डाटना चाहिए न कि मनके साधनोंका निग्रह अनुग्रह करनेकी होड़ मचाना। संयमके विकास करनेकी धुन बनानी है। अपने मनको डाटो। यह मन बड़ा स्वच्छन्द है। स्वच्छन्दतासे यह विषयोंमें मग्न होता फिरता है। पंचेन्द्रियके विषयोंसे अपनेको सुखी मानता है। सो विषयोंमें दौड़ लगा रहा है। इन विषयोंके सेवनका फल अत्यन्त कठिन होगा, दुर्गति होगी। प्रथम तो इस ही भवमें वह अशान्त रहेगा, दूसरोंके द्वारा विपदा पायेगा। अनेक कष्ट होंगे और परभवमें भी दुर्गति होगी। इन विषयोंसे प्रीति न लगानी चाहिए।

ज्ञानीका विवेक कमलवत् निर्लिप्तता— बुद्धिमान् पुरुष वही है जो पुण्यफलमें हर्ष नहीं मानता। जो भी समागम मिला है वह नियमसे नष्ट होगा, बिछुड़ेगा, इस तथ्यको कभी न मिटाया जा सकेगा। यदि इन समागमोंको पाकर कोई हर्ष माने, फूला न समाये तो उनके वियोगके समय नियमसे दु:खी होना पड़ेगा। बुद्धिमानी यह है कि उन समागमोंके समय में भी हर्ष विभोर न हो, जलसे भिन्न कमल है ऐसी वृत्ति रहे। ज्ञानी पुरुषोंकी ऐसी उत्कृष्ट वृत्ति होती है। घरमें रहते हैं फिर भी ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ है कि उन्हें अपने आत्माका प्रतिबोध होता है। सबसे निराले केवल ज्ञानमात्र आत्माका अनुभव होता है, इस कारण इस परिस्थिति-वश घरमें रहकर भी गृहजालमें ज्ञानी पुरुष अलग है, मोह, ममतामें नहीं फसा हुआ है। जैसे जलसे ही उत्पन्न हुआ कमल जलमें ही रह रहा है, जलके ही कारण हरा भरा है फिर भी यह कमल जलसे बहुत ऊँचे पड़ा हुआ है, जलमें नहीं रहता है। कमल डंडीसे कितना ऊँचे फूला करता है। जैसे जलमें रहकर भी कमल अलिप्त है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष घर में रहकर भी घरमें अलिप्त रहा करता है।

ज्ञानीकी विभक्तरूपता— अथवा जैसे वेश्याका प्रेम दिखावटी है, आंतरिक नहीं है, ऐसे ही ज्ञानीका प्रेम परवस्तुओंके विषयमें बनावटी दिखावटी होता है। परिस्थितिवश सब कुछ करना पड़ता है, किया जा रहा है, पर अन्तरङ्गमें परपदार्थोंसे प्रीति नहीं है। कैसे प्रीति हो? ज्ञानी के चित्तमें तो यह समाया है कि ये बाह्य पदार्थ हैं, विनेश्वर हैं, इनकी

प्रीतिसे कोई हित नहीं है, ऐसा विश्वास बना है। यह ज्ञानी पुरुष किसी भी विषयके साधनमें रुलझता नहीं है। जैसे कीचड़में स्वर्ण पड़ा है, उस पर जंग नहीं चढ़ती है, पर लोहे पर जंग चढ़ जाती है। लोहा चाहे कीचड़में रक्खा हो, चाहे घरमें कहीं रक्खा हो तो भी कुछ रजकण उसे प्राप्त होते हैं और वह अपने ऊपर जंग चढ़ा लेता है। ऐसे ही अज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप पर जंग चढ़ा लेता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष कीचड़में पड़ा हुआ सोनेकी भांति अलिप्त रहा करता है। भैया! अपने अपने मन को समझाना है। संसारकी विभूतिको पाकर इसमें बेहोश नहीं होना है। ये तो सब अस्थिर पर चीजें हैं। उदय पुण्यका है, मिल गया समागम ठीक है। पर ये समागम हर्ष बढ़ाने के लिए नहीं हैं। प्रत्येक परिस्थितिमें अपने आपको सावधान रखनेकी आवश्यकता है।

अज्ञानीकी क्या स्थिति होती है? इस बातको अब इस छंदमें कह रहे हैं।

विहाय व्याप्तमालोक पुरस्कृत्य पुनस्तम।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥१२४॥

**अज्ञानीके रागका पतनमें सहयोग**—ज्ञानीका राग तो सुबहकी ललाई की तरह है, जैसे सुबह सूर्योदयसे आधा घंटा पहिले पूर्व दिशामें जो लालिमा होती है वह उत्थान के लिए होती है, किन्तु अज्ञानीका राग है सन्ध्याकालकी ललाईकी तरह है। सन्ध्याकालकी जो ललाई है उसमें कितने ऐब होते हैं, प्रकाशको समाप्त कर देती है, अंधकार आगे छा जाता है और इस सूर्यको पातालमें भेज देती है। सूर्यके अस्त होनेका नाम पाताल में भेजना बताया है। किसी पुरुषके किसी प्रकारकी हानि हुई है और वह उसी बात पर अड़ जाय तो लोग कहते हैं कि भाई हम बहुत समझाते हैं, नहीं समझते हो तो जाओ गिरो कुएमें। उसका अर्थ यह नहीं है कि कहीं पानी वाले कुवेंमें गिर पड़ो। उसका मतलब यह है कि हानि भोगो, बरबाद हो। तो यों ही सूर्य पातालतलको प्राप्त होता है, इसका अर्थ है कि यह सूर्य अस्तको प्राप्त होता है। उस सन्ध्याकी ललाईमें इतने ऐब हैं कि प्रकाश को मिटाकर अंधकार आगे ला दे और सूर्यको भी रसातल भेज दे। ऐसे ही अज्ञानीका राग ज्ञानको मेटता है, अज्ञानको बढ़ाता है व जीवको बरबाद कर देता है।

**रागका दृष्टान्त और दार्ष्टान्त**—दोनों दृष्टान्तोंसे यह शिक्षा लेनी है कि ज्ञानी पुरुषका राग तो प्रभात कालकी लालिमाकी तरह, उठने के लिए है, लोग इस सूर्यको हाथ जोड़ेंगे, वे आदरसे देखेंगे, ऐसे ही ज्ञानीका यह राग जो तपस्या और ज्ञानमें पहुंच रहा है, वह इसके उत्थानके लिए है।

और अज्ञानीका राग ज्ञानको तो पीछे करेगा, क्रोधादिक मोह अंधकारको आगे लायेगा और नीचे दुर्गतिमें नरक आदिकमें पहुचायेगा। अज्ञानीके रागमें ये तीन ऐब हैं, ज्ञानको पीछे करना, अज्ञान अंधकारको आगे ला देना और मालिकको बरबाद कर देना। अज्ञानीके रागमें इतने ऐब बसे हुए हैं।

मोहका संकट—अहो कैसा मोह नाच रहा है जगत्‌के जीवोंपर कि मोहसे ही तो दु:खी होते जा रहे हैं और उस दु:ख मेटनेके उपायको मोह करना ही समझ रहे हैं। सो जिससे दु:ख होता है उसी कामको करने से दु:ख मिटेगा कैसे ? बढेगा। ऐसा साहस ज्ञानी ही करता है। ज्ञानी क्या, यह सब हम आपकी चर्चा है। जरा ज्ञानतत्त्वको संभाल लो, फिर वहाँ कोई वेदना, कोई भय, कोई शका नहीं हो सकती है। जीवनमें शान्ति रहेगी। यहां बहकाने वाले बहुत हैं। लोगोंके आराम देखकर लोगोंके विषयसाधन निरख कर, लोगोंकी बात सुनकर यह भी अपने होशको गायब कर देता है। उन्हीं भोगविषयोंमें रमनेकी इसकी बुद्धि होती है। हाय जितना वैभव इनके है उतना मेरे पास क्यों नहीं है ? इतना वैभव हो जाय तो हमें शान्ति मिलेगी ऐसी उनके चित्तमें गलत धारणा बनी है।

कर्तव्यशिक्षण—भैया ! एक ही मात्र निर्णय मान लो कि जो अशान्त होता है वह अपने अपराधसे ही होता है। हमें अशान्ति दूर करना है, शान्ति चाहना है तो यह कर्तव्य होगा कि वस्तुका सही स्वरूप जानें। अपना ज्ञान बढ़ायें, परसे भिन्न अपने को निरखें, मोहका परित्याग करें तो अपने आपमें इसे शान्ति का अनुभव होगा। यहाँ दो श्लोकोंमें ज्ञानीके राग और अज्ञानीके रागकी चर्चा की गई है। अपना राग बनायें संयममें, तपश्चरणमें, ज्ञानके अर्जनमें। यहां क्या कष्ट है ? कष्टका तो यहां कोई नाम ही नहीं है। व्रत, तप, संयम इनमें तो अनुराग करे और जो ज्ञानदृष्टि है उसकी रुचि बनाएँ, जितना हम अपने को अकेला अनुभव करेंगे उतना ही हम ज्ञानमें बढ़ेंगे, उतनी ही शान्ति होगी।

> ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलम्।
> चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गो गुणा रक्षकाः॥
> पन्थाश्च प्रगुणं शमाम्बुबहलश्छाया दया भावना।
> यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५॥

साधुजन एक शान्तिके धाम निर्वाण-पदको प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी यात्रा निर्वाण यात्रा है। वे अपनी निर्वाण यात्रामें बिना विघ्नके कैसे निर्वाण सदनको प्राप्त करते हैं, उसकी विधि पद्धति इस छंदमें बतायी गयी है।

यात्राके साधन--जैसे कोई पुरुष किसी इष्ट स्थानको जाना चाहता है कोई राजा या कोई धनिक या अधिकारी ऐसा कोई महापुरुष जब अपनी यात्रा करता है तो उसके आगे कई लोग जाया करते हैं। उन्हें पुरस्सर कहते हैं। कोई महान् पुरुष चलता है तो उसके आगे आगे खबर पहुचाने वाले या व्यवस्था करने वाले चलते है अथवा मार्ग दिखाते हुए चलते हैं, ऐसे कुछ साथ चलने वाले होते हैं। यात्रामें यात्रीके साथ कुछ सहचर व सहचरी होते हैं जो प्रत्येक चर्यामें यात्रीके प्रोग्रामके सहायक होते हैं। साथमे भोजन सामान भी रहता है ताकि कोई व्याकुलता न रहे। चौथी बात--उनकी शिविका पालकी वगैरह जिसमें चलते हैं अथवा थक जायें तो बैठ सके इसके लिए शिविका रहती है। ५ वीं बात उनकी उस यात्रा के बीचमे ठहरनेके बहुतसे स्थान पड़ाव नियत और सज्जित हो जाते हैं। छठवीं बात उनके रक्षक लोग उनके साथ आगे पीछे रहा करते हैं। ७ वीं बात रास्ता भी बड़ा साफ सरल है और जिस रास्तेके बीचमें जगह जगह पानीका प्रबध हो ऐसा पथ होता है और उस रास्तेमें छायाका काफी प्रबध रहता है। ८ वीं बात उनकी सवारियोंका भी अच्छा प्रबध होता है। ऐसे साधनोंके साथ जो यात्रा करता है वह अपने इष्ट स्थानको निर्विघ्न बिना क्लेश, बिना उपद्रवके पहुच जाता है।

अध्यात्मयात्रामे ज्ञानकी पुरस्सरता--उक्त दृष्टान्तको दृष्टिमें रखकर गुणभद्र आचार्यने साधुजनोंकी निर्वाण यात्राका वर्णन किया है। इन साधुवोंके आगे आगे चलने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान साधुवोंको मार्ग दिखाता हुआ रहता है। यह ज्ञान आगे आगेका समस्त प्रबंध करता हुआ रहता है। इन साधुजनोंका पुरस्सर है ज्ञान। जैसे किसी बडे आदमी की यात्रामें आगे-आगे चलने वाले नियत रहा करते हैं। निर्वाण यात्राका अर्थ कोई ऐसा न लगाना कि किसी खास स्थान पर पहुचनेकी यात्रा। यह तो एक भावोंकी यात्रा है। किसी परपदार्थकी ओर अभिमुख होना, परपदार्थमें अपनी नजर बनायी, उसमें रति की, यह है ससारकी यात्रा और परपदार्थ से उपेक्षा करके एक निजस्वभावमें अपनी रुचि बनायी और इस ज्ञानस्वभाव की ही उपासना की तो यह है निर्वाणयात्रा। यह यात्रा भाव रूप है, इसी कारण इसमें सब बातें भी भावरूप ली गयीं हैं। साधुसत पुरुषोंकी इस महान् यात्रामें आगे आगे ज्ञान चलता है। यह ज्ञान मार्ग दिखाता हुआ चलता है। यदि ज्ञान न हो तो मोक्षके पथमे ये साधु सत जन कैसे चलें? यह ज्ञान ही तो उपाय बताता रहता है। कैसे सयम करना, कैसे ध्यान करना, यह सब ज्ञान बिना नहीं हो सकता। तो इन साधुवोंका पुरस्सर ज्ञान है।

ज्ञानकी मार्गप्रकाशकता--भैया ! ज्ञानको ज्योतिकी उपमा दी है। दीपक और सूर्यकी उपमा दी है। जैसे ये प्रकाशमान पदार्थ मार्ग दिखा देते हैं ऐसे ही यह ज्ञान मार्ग दिखा देता है। ज्ञान सबसे किसी न किसी रूपमें बना ही रहता है। कोई पुरुष खोटा काम करे, पापका काम करे तो कर्मोंके उदयकी प्रेरणासे भले ही उस खोटे काममें लगता हो, लेकिन ज्ञान तो तथ्य बता ही देता है कि तुम्हारा यह कदम खोटा है। कषायकी तीव्रता होती है तो उस ज्ञानकी बात कोई मानता नहीं है। परिस्थिति है, फिर भी यह ज्ञान सूर्यकी भांति मार्ग तो बता देता है पर उस पर चलना यह चारित्र गुणकी बात है। जैसे प्रातःकाल हुआ कि सूर्यका प्रकाश फैला। लोग जग जाते हैं, मार्ग दिख गया, पर सूर्य चलाता नहीं है, यह तो एक मार्गका प्रकाशक है, इसी तरह ज्ञान मार्गका प्रकाशक है। अब कोई चले उस मार्ग पर तो कुछ लाभ भी पाये, न चले तो ज्योंका त्यों ससारमें रुले ! साधुजनोंके आगे-आगे ज्ञान चलता है।

धर्मयात्रीकी सहचरी—निर्वाणपथिक सन्तोंकी सहचरी है लज्जा। लोक लज्जाकी कृपासे अनेक व्यसन और पापोंसे बचे रहा करते हैं। कभी किसी जीवके मनुष्यके कोई असाता कर्मका और पापभावका उदय आये, विकार भी मनमें आये तब भी लज्जाकी इतनी कृपा है कि उसके कारण वह पापोंसे बचे रहा करता है। धर्मात्माजनोंके लिए इस प्रकारकी लज्जा एक शृङ्गारका काम देती है। इन साधुसंतोंकी सहचरी लज्जा है। अर्थात् अधर्म कार्यको रोक देना, धर्मकार्यसे चलित न होने देना, ऐसी जो प्रेरणा है अथवा लोकलाज है, कोई मुझे क्या कहेगा, इस प्रकारकी लाजके कारण भी बहुतसे लोग पापोंसे बचे रहा करते हैं। इन साधु सन्तोंकी इस निर्वाण यात्रामे सहचरी लज्जा है।

धर्मयात्रामे सवल—इतनी बड़ी यात्रामें साथमें कलेवा भी रहना चाहिए। भोजन नास्ताका प्रबंध भी रहना चाहिए। सो उसको इस निर्वाण यात्रामें तपश्चरण सम्बल है। जैसे लोग अपनी यात्रामें भोजन आदिक नास्ताका कुछ प्रबंध स्वयं रखते हुए जायें तो उन्हें यात्रामें खेद और बाधाएँ नहीं आती हैं। लोग करते भी ऐसा हैं। कोई पुरुष जो अशुद्ध और जैसा मिला तैसा ही खाने वाला हो तो साथमें कहीं नहीं ले जाते, पर पैसा तो रखते ही हैं। पैसोंसे चीज खरीदी और खा ली। तो पैसा भी एक कलेवाकाही रूप है। यदि सम्बल न हो तो खेद खिन्न होकर यह यात्री कहो बीचमे ही प्राण गँवा दे। इन साधु संतोंका यह सम्बल है तपश्चरण। इनकी यात्रा है शुद्ध भावोंकी। शुद्ध भाव रखनेका इनमें बल बना रहे इस बलके प्रकट करनेके लिए तपश्चरण कलेवा जैसा काम देता

है। यात्री थक जाय, मुसाफिर शिथिल हो जाय चलते चलते तो जहाँ इसने भोजनपान किया कि एक नई स्फूर्ति आ जाती है। फिर वह आगे कदम बढ़ा लेता है। ऐसे ही ये साधु बहुत-बहुत असत्संगके कदाचित् वातावरण पानेसे कुछ विकार भावमें आयें तो तपश्चरण जहाँ किया वहाँ यह शिथिलता दूर हो जाती है। तपस्याका मुख्य सहयोग विषय कषायोंकी बाधावोंसे बचानेका है। जावमें कायरता विषयवासनाके कारण होती है। यही इस जीवकी शिथिलता है। अपनी यात्रामें यह पुरुष शिथिलताको मिटानेके लिए तपश्चरण करता है।

धर्मयात्रामें शिविका—यह साधु किस शिविकामें बैठकर यात्रा कर रहा है? वह शिविका है चारित्रकी। चारित्रकी पालकीमें बैठकर निर्वाण की यात्रा कर रहा है। जहाँ शुद्ध चारित्र प्रकट होता है वहां खेद नहीं रहता। आरामसे पालकीमें चले जा रहे हैं। वहां खेदका क्या काम है? जिनके सम्यक्चारित्र प्रकट नहीं है खेद उनको लगा है। चारित्र तो खेद का विनाश करने वाली शक्ति है। चारित्र नाम है आत्माके सहज स्वभाव में उपयोगको स्थिर करना। जिनकी सहजस्वभावमें उपयोगकी स्थिरता है उनको खेद है क्या? खेद तो विषयकषायोंकी वृत्तिसे हुआ करता है। कभी क्रोध कषाय जग जाय तो उसमें खेद उत्पन्न होता है, थकान उत्पन्न होती है, व्याकुलता हुआ करती है। कभी मान कषाय जग जाय तो अन्य लोगोंसे अपनेको उच्च जाहिर करनेके लिए यह नाना विकल्पात्मक श्रम करता है, वहां इसे खेद होता है, किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए माया-चार रचता है। उस मायाचारकी वृत्तिमें इसे खेद होता है। लोभ कषाय हो इसमें भी भावात्मक खेद चलता है। इन सब खेदोंसे परे चारित्रकी अवस्था होती है। जो पुरुष सम्यक्चारित्रका आधार लेते हैं उन पुरुषोंको खेदसे काम नहीं है। ये निर्वाण पथके पथिक साधु संत पुरुष ऐसी निर्वाण यात्रा करते हुए आगे बढ़ते चले जा रहे हैं।

निर्वाण यात्रामें निवेशनधाम—निर्वाण पथिक साधु संतोंको रास्तेमें ठहरनेके साधन क्या-क्या मिलते हैं? स्वर्ग अथवा उत्कृष्ट मनुष्य विभूति का धाम इन साधु संतोंको मिलता है। जैसे बड़े पुरुष कहींके लिए प्रयाण करें तो रास्तेमें उनके स्थान सुसज्जित रहा करते हैं। ये साधु पुरुष अपनी भावात्मक यात्रा करते हैं निर्वाण जानेके लिए। तो जब तक उन्हें निर्वाण नहीं प्राप्त होता अर्थात् जब तक वे मुक्त नहीं हो जाते तब तक स्वर्गोंमें उत्पन्न हों, श्रेष्ठ मनुष्यभवमें उत्पन्न हों, ऐसे ही उनके रास्तेके ठहरनेके स्थान होते हैं।

धर्म यात्राके रक्षक—इन साधु संतोंके रक्षक गुण हैं। जैसे किसी महा

पुरुषके साथ रक्षक अर्थात् बाडी-गार्डस रहा करते है, ऐसे ही इन साधुवों की रक्षा करने वाले गुण हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और और भी अनेक धर्म सम्बधित व्यावाहारिक गुण इनकी रक्षा किया करते हैं। इनकी अहिंसामयी मुद्रा रहती है और ये इस अहिंसा गुणके प्रतापसे बड़े बडे दुश्मनों पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं, केवल एक अहिंसा भावसे। इनका गुण इनका रक्षक है।

निर्वाण पथ—इन साधुवोंका मार्ग, मोक्ष जानेका बड़ा सीधा है। अपने ही विषयमें घटावो। अपनेको क्लेशोंसे छुटकारा पाना हो तो अपना मार्ग भी बिल्कुल सरल है। यह मैं खुद जो कुछ हूं, जिसमें मैं मैं की धुन होती है, अहं प्रत्यय होता है। वह चैतन्य तत्त्व कुछ तो है। उस मुझ चैतन्यको कष्टोंसे मुक्त होना है तो यहां कष्ट व विश्रामकी विधि पर ध्यान दो। पहिली बात तो यह है कि कष्ट होते किस विधिसे हैं? समस्त जीवों को जिनको कष्ट है उनकी विधि एक ही प्रकारकी है। भले ही कल्पना में कष्ट नाना हैं और उनकी विधि भी नाना है, पर वह सब विधि मूलमें एक है। क्या? अपनेके अकिञ्चन ज्ञान स्वभावमात्र न मानकर किसी पर-पदार्थसे सुख हित मानना। इतनी बात सब प्राणियोंके साथ लगी हुई है। चाहे कोई किसी प्रकारका दुःख मानता हो, चाहे वह साधु हो अथवा गृहस्थ हो, किसी प्रकारका क्लेश जो मानता हो उसकी एक ही पद्धति है। अपनेमें सन्तोष न करके बाहरी पदार्थोंकी आशा लगाना। सबका दुःख एक ही किस्मका है। जिन्हें यह दुःख मिटाना हो उनका कर्तव्य है कि ऐसा ज्ञान बनाएँ अपनेमें कि जिससे अन्तरङ्गमें परवस्तुकी आशाका भाव न रहे।

अशान्ति और शान्तिकी पद्धति—भला थोड़ा विचार तो करो। जो लोग धन वैभवके बढानेकी होड़में लगे हुए हैं, मान लो कदाचित धन बढ़ जाय, बहुत सा धन पासमें रहे तो केवल एक मोह नींदमें स्वपन का एक मौज लेते हों तो भले ही लें। शायद कुछ लोग प्रशंसाके शब्द भी बोल देंगे, भले ही कुछ एक काल्पनिक मौज मान लें, लेकिन इससे लाभ कुछ नहीं होनेका है। इस वैभवसे आत्माको कोई शान्ति न मिल जायगी। शान्तिका उपाय सबका एक ही है। भले ही कोई दुःखी रहकर भी अपने को शान्त मान ले तो यह उनकी एक कल्पना है, पर-जिनको भी शान्ति चाहिए है उन्हें शान्ति एक ही पद्धतिसे होती है। परपदार्थोंका राग मिटाये, मोह हटाये अपने आपके सहज ज्ञानस्वभावकी ओर अपना चित्त लगाये तब यह अपने स्वभावमें मग्न हो जायगा। फिर इसे नियमसे शान्ति प्राप्त होगी। बाह्यकी ओर झुकना सो अशान्तिका उपाय है। अपने अन्तः

स्वरूपकी ओर झुकना सो आनन्दका उपाय है। सबको यही करना पड़ेगा। बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे महापुरुषोंने भी सर्वपरिग्रहोंका परित्याग करके निज अंतस्तत्त्वकी ओर झुकनेका मार्ग अपनाया था। और इस परम पुरुषार्थके प्रतापसे उन्होंने वह सहज शान्ति भी प्राप्त की थी। अपने को भी यही करना होगा तब शाश्वत शान्तिके अधिकारी बनेंगे।

वास्तविक प्रभुपूजा—हम जिस प्रभुको पूजते हैं उस प्रभु ने जो किया है उस कर्तव्यमें हमारा अनुराग न जगे तो वह प्रभुपूजा न कहलायेगी। जैसे कोई पुरुष अपने वृद्ध पिताका भोजनका तो ख्याल रखता है, समय पर भोजन पहुंचा दे, पर न पिताकी कोई बात मानता है, न पितासे कोई विनयपूर्वक बोलता है बल्कि पिता चाहता कुछ है और वह प्रतिकूल परिणमता है तो यह पिताकी उपासना नहीं कहलायी। लेकिन लोकलाज आदि अनेक कारणोंसे अपने वृद्ध बुजुर्ग पुरुषके भोजन आदिककी सुविधा बनाये रहे यह हो सकता है। यों ही कोई प्रभुकी मूर्तिके समक्ष पुष्प चढ़ा कर अथवा झांझ मजीरा ठोककर बड़े राग रंगीले स्वरोंकी तान छेड़कर उनकी पूजा करे, भक्ति करे, लेकिन प्रभुने जो कार्य किया है, जिस कर्तव्यसे वे प्रभु बने हैं उस कर्तव्यमें आदर न हो, उसको ही करने योग्य न मानता हो तो वह प्रभुपूजा नहीं कहला सकती है। प्रभुता पानेका बहुत सुगम उपाय है, परद्रव्योंसे मोह हटाकर निज सहज ज्ञानस्वभावमें उपयोगको रमाना।

धर्मपथकी विशेषता और धर्मयान—ये साधु संत जिस रास्तेसे चल रहे हैं वह बहुत सीधा है और उस स्वाधीन भावात्मक पथमें समताका बहुत जल प्रदेश मिलता रहता है। उनके इस मार्गमें दया ही एक छाया है। उन्हें अपने और पर प्राणियोंकी दया बराबर बनी रहती है। यही दया छायाका काम करती है। उन प्रभुकी सवारी, यान, वाहन भावना है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक धर्म और बोधि दुर्लभ—इन बारह भावनाओंका स्वरूप ज्ञानमें आना यही उनकी एक विलक्षण सवारी है, जिससे वे आगे अपनी यात्रामें बढ़ते जाते हैं। यों यह सब साधन मुनियों को निर्वाणपद पर पहुंचा देते हैं बिना उपद्रव और बिना विप्लवके।

कर्तव्यनिर्देशन—इस छंदसे यह बात जाननी है कि हमारा ज्ञान आगे आगे चले, लज्जा अपने साथ रहे जिससे पापकार्य न कर सकें, तपश्चरण किसी न किसी रूपमें बनाये रहें और ऊंचा सर्वोत्कृष्ट चारित्रका पालन करें तो अपन भी इस मार्गसे चलकर कर्मोंका विध्वंस करके शाश्वत सहज आनन्द प्राप्त कर लेंगे। ये सब गुण साधु संतोंमें को निर्वाण पद पर

पहुंचा देते हैं। सदाचारसे प्रेम बढ़ावो, पापाचारसे चित्त हटावो। हमारा ज्ञान, हमारी शुद्ध वृत्ति हमें बल प्रदान करेगी। और इस स्वात्मबलसे हम संकटोंका विनाश कर सकेंगे। विना उपद्रवके एक परमशान्तिके महलमें पहुचना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका आश्रय लो, इससे ही हम आप निर्वाणके निकट पहुंच जायेंगे।

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो लोके तदा सुस्फुटम्,
यासामर्ध विलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्वतः।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः,
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमस्तद् गोचरं मास्म गाः ॥१२६॥

धर्मपथमें संभावित उपद्रवकी जिज्ञासा—पूर्व छंदमें यह कहा गया था कि जो साधु अपने इष्ट निर्वाणके पथमें निर्विघ्न विहार करके मोक्षस्थान को पहुच जाते हैं। उस निर्वाणकी यात्रा करने वाले साधुके आगे आगे ज्ञान जाता है और व्यवस्था बनाता है व मार्ग दिखाता है। इनके साथ चलने वाली लज्जा रहती है, अर्थात् पाप और व्यसनोंसे जिस लोकलज्जा से लोग बचे रहा करते हैं वह लज्जा उनके साथ है। जो पाप करने मे लाज रखते हैं, प्राय लोक लाजके कारण वे लोग पापोंसे बचे रहा करते हैं। वह लाज भी उनके साथ है। रास्तेमें तपश्चरणका क्लेश भी उनके साथ है। चारित्रकी पालकी में विराजमान होकर वे जाते हैं। रास्तेके पड़ाव उनके स्वर्ग हैं। जैसे कोई यात्री यात्रा करता है तो बीचमें पड़ाव करना पड़ता है। उन मुनियोंके बीचके पड़ाव स्वर्ग हैं, उनके रक्षक गुण है, रास्ता बिल्कुल सीधा है। रास्तेमें दयाकी छाया है, भावनाकी सवारी है, इतने साधन मिले हैं जिमसे वे निर्वाणसदनको विना उपद्रवके पहुच जाते है। ऐसा पूर्वछंदमें वर्णन करनेके बाद एक जिज्ञासा होती है कि जिज्ञासा होती है कि उनके मुक्ति पथमें बाधा देने वाले उपद्रव कौन-कौन हुआ करते हैं? उसके उत्तरमें यह छंद कहा गया है।

साधु सम्बोधन—यह ग्रन्थ मुनियोंको चेतावनेके लिए बनाया गया है। मुनियोंको सम्बोधन किया है। सो इस प्रसंगमें मोक्षके कार्योंमें बाधक स्त्री प्रेमको बताया है। इस कारण स्त्रीके सम्बधमें इस प्रकार वर्णन आयगा जिससे साधुजनोंको वैराग्य बना रहे। जो बात स्त्रियोंके सम्बंधमें कही जा रही है वही बात स्त्रियाँ पुरुषोंके सम्बधमे लगा लें। बात दोनोंकी दोनों तरफ है। किन्तु यहाँ प्रकरणवश साधुओंके सम्बोधन के लिए कहा जा रहा है।

दृष्टि विष—लोग सर्पको दृष्टिविष बताया करते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि कुछ सर्प ऐसे हुआ करते हैं कि उनके देखने भरसे ही विष चढ़

जाया करता है। कहीं ऐसे सर्प देखे गए हैं कि जो दृष्टिविष हों। लोग कहते हैं कि दृष्टिविष सर्प होते हैं, पर यह बात मिथ्या है। दृष्टिविष सर्प नहीं हैं, किन्तु दृष्टिविष स्त्री होती है। एक साधुको सम्बोधन किया गया है। ये स्त्रीजन आधा भी देख लें अर्थात् आधी आंखसे भी देख लें तो जगतका प्राणी विह्वल होकर कामवासनामें जलकर बरबाद हो जाता है। तब दृष्टिविष साप नहीं हुआ बल्कि स्त्री हुई। यह साधुवोंको सम्बोधनेके लिए है, किसीको बुरा माननेकी बात नहीं है। स्त्रीजन पुरुषोंके लिए भी इतनी बात लगाती जायें। कैसा समझाया गया है कि किसी तरह ये मुनि कामभावसे अत्यन्त विरक्त हो जायें, प्रयोजन मात्र इतना है। हे साधु! तूने तो स्त्रीका सर्वथा त्याग किया है। महाब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है। अब तू अपने त्यागके विरोधी जो स्त्रीजन हैं उनकी प्रीति करके व्यर्थ क्यों भटक रहा है, अपनी कल्पनामें भ्रम रहा है? तू जिनमें रतिकी कल्पना करता है वे ही तेरे वैरीरूप हैं, विषरूप हैं। तू उनके सम्बधमें अपनी कल्पना मत जगा।

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दृष्ट्वैव काले क्वचित्।
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः ॥
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा।
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७॥

निर्वाणपथमें बाधक स्त्रीभुजग—देखो सर्प तभी दूसरेके प्राण हरते हैं जब वे क्रुद्ध हो जायें। सर्पपर पैर पड़ जाय, उन्हें क्रोध आजाय तो वे डस लेंगे। तो क्रुद्ध होकर सर्प प्राणोंके हरने वाले होते हैं—एक बात। दूसरी बात- ये सर्प कभी ही प्राण हरते हैं। इनका रोजका व्यवसाय नहीं है कि मनुष्योंको ढूँढें और पैरोंमें लिपट कर डस लें। कदाचित् कभी ये सर्प डसते हैं। तीसरी बात-ये सर्प डस भी लें तो भी उनकी औषधियां बहुत हैं, जो औषधियां तत्काल भी विषका विच्छेद कर दें। यों सर्पसे बच भी सकते हैं किन्तु यहां स्त्री प्रसंगमें तो सभी बातें उल्टी नजर आती हैं। सर्प क्रुद्ध हो तब प्राण हरे किन्तु स्त्रीजन प्रसन्न हों तब भी प्राण हरें। ये भुजग किसी ही समय कभी ही डसते हैं किन्तु ये स्त्रीजन तो योगीन्द्रों तक को भी जैसे कि पुराणोंमें बहुतसी कथाएँ आयी हैं। ये उनको भी उनके शीलसे, संयमसे विचलित कर देती हैं और स्त्रीजन याने तद्विषयक प्रेम निरौषधिविष है। इसकी औषधि कोई जड़ी बूटी नहीं है, मात्र ज्ञान है।

शीलविघातकी निन्द्यता—यहां साधुजनोंको सम्बोधा जा रहा है, अतः स्त्रीनिन्दाका प्रतिपादन चल रहा है अन्यथा वैसे वर्तमान पद्धतिमें निरखा जाय तो शीलविघातमें अधिक अपराध पुरुष जनोंका हुआ करता है। स्त्री

के लज्जा नामका एक ऐसा अद्भुत गुण है जिस लज्जा भावके कारण अपने शीलकी रक्षा करनेमें वे समर्थ हैं। पुरुषोंमें लज्जा नामका वह गुण नहीं होता। तब जितनी घटनाएँ पुरुषोंकी ओरसे अनुचित होती हैं उतनी स्त्रीजनोंकी ओरसे नहीं होतीं। जैसे कि अखबारोंमें बहुतसे समाचार रंगे भी आते हैं। क्या कभी ऐसा सुना है कि किसी स्त्रीने किसी पुरुषको हरा हो, उस पुरुष पर आक्रमण किया हो? ऐसा तो कहीं नहीं देखा होगा अखबारोंमें। जितने भी इस प्रकारके समाचार आते हैं उनमें पुरुषोंका ही अपराध मुद्रित देखा होगा। तो यों अपराधोंकी दृष्टिसे तो पुरुषोंका नम्बर कम नहीं है।

साधुताके प्रयोजनमें—यहां यह देखो कि ये साधुजन अपने व्रतकी रक्षाके लिए और निर्वाणपथमें निर्विघ्न अपना कदम बढ़ानेके लिए कैसे विचार रक्खा करते हैं? इस कामविनाशके लिए, इस दृष्टिसे यहां सुनना है। मुक्तिके पथमें प्रवेश करने वाले साधुजनोंको कोई मुख्यविघ्न है, उपद्रव है तो वह स्त्रीविषयक प्रेम है। वे समस्त उपद्रव जो तिर्यञ्चोंके द्वारा मनुष्योंके द्वारा अथवा शारीरिक वेदनावोंसे सहे जा सकते हैं। वे उपद्रव उतने विघ्नरूप नहीं हो पाते जितने कि स्त्रीजन हैं।

काम विडम्बना—कोई कथानक तो यह बतलाते जो लोग उन्हें मानते हैं कि कोई ऋषि थे। उनकी चार पांच हजार वर्षकी बड़ी ऊँची तपस्या थी। उनकी कठिन तपस्यासे इन्द्रका आसन डोल गया। तब इन्द्रने एक अप्सरा भेजी उसे डिगानेके लिए। यह उन मानने वालोंके मुताबिक बात कही जा रही है। उस स्त्रीने ऋषिके पास जाकर बड़े हावभाव दिखाकर नृत्य किया, लीलाएँ कीं। वह ऋषि अपने ध्यानसे चलित होकर उसकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। वह स्त्री दक्षिण दिशाकी ओर आयी तो उस ऋषिने सोचा कि दक्षिणकी ओर मुख घुमानेका कष्ट क्यों करें, सो एक मुख उधरको भी बना लिया। फिर वह स्त्री पश्चिमकी ओर नृत्य करने लगी तो एक मुख पश्चिमकी ओर बना लिया, वह स्त्री उत्तरकी ओर नृत्य करने लगी तो एक मुख उत्तरकी ओर बना लिया। यों चारों दिशावों में मुख बन गये। फिर वह ऊपर नृत्य करने लगी तो ऊपर भी यदि मनुष्य का मुख बनायें तो उससे ऊपर तो नहीं दिखेगा तब गधाका मुख बनाया। उसकी आंखें तो ऊपरको ही रहेंगी। तो यों चतुर्मुख पचमुख बन गए, ऐसी प्रसिद्धि है। तो इस पंथमें एक विशेष बाधा वाली कोई बात आती है तो वह है कामविषयक वासना।

साधुवोंको स्त्रीसंगकी नितान्त त्याज्यता—स्त्रीरति साधुजनोंको विशेष बाधा करने वाली होती है। अब इस तरह जान जाइए कि कोई एक मुनि

हों, और संगमें केवल एक स्त्री चाहे ब्रह्मचारिणी बना दी हो और चाहे क्षुल्लिका बना दी हो, एक ही मुनि हो और साथमें एक स्त्री चले तो आप उसे आगमके विरुद्ध मानेंगे या न मानेंगे ? यह तो शास्त्रके विरुद्ध बात है। जहां यह बताया गया कि साधुजनोंसे इतनी दूर रहकर नमस्कार करे साधुसे ७ हाथ दूर, आचार्यसे ५ हाथ दूर रहकर नमस्कारका विधान है। फिर एक ही एकको साथ लेकर रहे यह तो बिल्कुल अयोग्य ही आचरण है। ऐसी अन्य भी कोई बात हो तो श्रावकजनोंको इस ओर अपनी दृष्टि बनानी चाहिए कि जो धर्मके अत्यन्त विपरीत बात है और फिर भी उसकी भक्तिमें अंध होकर अपने आपको अज्ञानी बनाए रहे तो इससे वध कौन करेगा ? साधुसंघमें अधिकांश क्षुल्लिकाएँ रहा करती हैं, पर उन समस्त क्षुल्लिकाओं, ब्रह्मचारिणियों आदि पर शासन एक आर्यिकाका रहेगा, और वे सब उन मुनिजनोंसे दूर रह रहकर चलेंगी और उनसे दूर स्थानपर आर्यिकाओंके संगमें ठहरेंगी। वे उन मुनियोंके संगमें न रहने की तरह हैं।

> एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं,
> मुक्तिश्रीललना गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
> ता त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनिता वार्तामपि प्रस्फुटम्,
> तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥

मुक्तिरमणीके ही आदरका अनुरोध--हे साधु ! देख, तुझे यदि मुक्तिरूपी स्त्रीकी कामना है तो तू यहां मनुष्य स्त्रीसे प्रीति छोड़ दे, अलंकारमें कहा जा रहा है कि क्योंकि स्त्रीजन प्राय करके ईर्ष्या रक्खा करती हैं। जैसे कहते हैं ना सौत। एक पुरुषके दो स्त्री हों तो उन दो स्त्रियोंमें परस्पर ईर्ष्या रहा करती है। तो देख साधु, तेरे सम्मुख दो स्त्री हैं—एक तो मुक्तिरूपी स्त्री और एक यह मनुष्यगतिकी स्त्री। तू यदि मनुष्यगतिकी स्त्रीसे प्रीति करेगा तो तुझे मुक्तिरूपी स्त्रीका लाभ न मिलेगा और तुझे मुक्तिरूपी स्त्री का लाभ चाहिये तो मनुष्यगतिकी स्त्रीकी प्रीति तजना होगा। यह मुक्तिश्री ललना एक उत्तम नायिका है। इसको साधारणजन छोड़ देते हैं। साधारणजन इस मुक्ति ललनाके गुणोंको भी नहीं जानते, फिर भी यह जगतमें श्रेष्ठ और प्रेय है। यह मुक्ति श्री गुणी पुरुषोंसे ही अपनी प्रीति करती है। इस मुक्तिललनाको पाने की यदि तेरी इच्छा हो तो तू उसका ही श्रृङ्गार बना। मुक्तिस्त्रीका ही श्रृङ्गार बना अर्थात जिस ज्ञान और वैराग्य द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सके उस ज्ञान और वैराग्यको तू सभाल, अन्य वनिताओंकी वार्ता तक भी मत कर, क्योंकि स्त्रीजनोंका स्वभाव परस्परमें ईर्ष्या रक्खे रहनेका है। तू मनुष्यगतिकी स्त्रीमें प्रीति रक्खेगा तो मुक्तिस्त्री तुझे न मिल सकेगी और मुक्तिस्त्रीकी यदि वाञ्छा है

तो अन्य वनिताओंका वार्ता समाचार भी मत कर। लौकिक जन ही मुक्तिस्त्रीको तजकर मनुष्यगतिकी वनिताका आदर करते है, किन्तु साधुजन एक उस मुक्तिकी ही इच्छा करते हैं।

आत्माकी अलिङ्गता—भैया! कल्याणकी वात सबको चाहिए। यह आत्मा न पुरुष है और न स्त्री है। आत्माके स्वरूप को देखो—यह तो एक सच्चिदानन्दस्वरूप पदार्थ है। ये पुरुष और स्त्री सब पर्यायोंकी चीजें हैं। आत्माके स्वरूपमें न पुरुषपना है और न स्त्रीपना है। यदि कोई जीव मैं स्त्री हू, मै स्त्री हूं ऐसा अपना विश्वास बनाए तो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। ऐसे ही कोई पुरुष अपना ऐसा विश्वास बनाये कि मैं पुरुष हू, मर्द हूं तो यह भी उसके मिथ्यादृष्टिपनकी वात है। विश्वास तो यथार्थ पूर्ण होना चाहिए। यह तो कल्याणके प्रसगमें पुरुषोंको समझाने के लिए स्त्रीकी एक निन्द्यवार्ता कही गयी है। स्त्री स्वयं यों निन्द्य नहीं है, किन्तु पुरुषको अपनी कल्पनामे स्त्रीके सम्बन्धमें ऐसा सोचना चाहिए जिससे विरक्त रह सके, यों ही स्त्रीजन भी अपनी उन्नतिके लिए पुरुषोंके सम्बन्धमें भी ऐसा सोच सकती हैं जिससे उनका शील, उनका सयम पूर्णतया रह सके। किसी भी प्रकार हो, इस जीवका कर्तव्य है कि अपने उपयोगमे विकारभाव न लायें और अपनेको निर्विकार रक्खें।

निर्विकार परिणतिका उपाय—निर्विकार परिणति वनानेका यह भी एक उपाय है कि अपने निर्विकार स्वभावकी वारवार भावना भायें। मैं शुद्ध हूं, चैतन्यमात्र हू। एक बार रुड़कीमें ९ दिन तक प्रवचन सुननेके वाद एक अजैन महिला सुवहके समय मदिरमें आकर हमसे पूछती है कि महाराज हमें एक शका है जिससे हमें बड़ा दुःख रहा करता है, वह क्या शका है कि मुझे यह विश्वास वना है कि मै स्त्री हूं, कायर हू मैं व्रत तप नहीं कर सकती, मुक्ति नहीं पा सकती, इसकी मुझे वहुत वेदना वनी रहती है। ठीक है। कुछ थोड़ी देर बाद उससे कहा कि पहिले तो यह विचारो कि तुम एक चैतन्यपदार्थ हो या मास मज्जाका पिंड रूप यह शरीर हो, पुद्गल हो? पहिले तो इसी बातका निर्णय करलो। तुम चेतन होना जानन देखनहार एक आत्मा हो ना? शरीर तो नहीं हो, जड़ तो नहीं हो अब उस आत्मामें यह निरखो कि उस आत्मामें क्या कोई भिन्न-भिन्न आकार हैं, क्या अंग उपांग हैं, क्या कोई शरीर है, कोई चिन्ह है? आत्मा तो एक ज्ञानप्रकाशमात्र है। एक ऐसा विलक्षण पदार्थ है जो ज्ञानभावसे ही रचा हुआ है। उस ज्ञानानन्दघन अपने आत्माकी सुध लो और भीतरमें यह धुन बनाओ कि मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हू।

स्वभाव भावनामें प्रगति—इस ज्ञानानन्दमात्र तेरे आत्मामें न पुरुष-

पना है, न स्त्रीपना है। बजाय इस भावनाके कि मैं स्त्री हूं, यह भावना भावो कि मैं एक चित्स्वभावमात्र पदार्थ हू, सच्चिदानन्दमय एक तत्त्व हू। जो पुरुष भी अपने आपमें ऐसा विश्वास रखे हो कि मैं पुरुष हू उसका भी उद्धार नहीं है। यों ही जो मैं स्त्री हू ऐसा विश्वास रक्खे है उसका भी उद्धार नहीं है। यह तो एक पर्यायका सम्बध है। आत्मा तो सच्चिदानन्द-स्वरूप एक स्वभाव है। उस आत्माकी प्रगति करना है।

भावनानुसारिणी वर्तना—भैया! अपनी प्रगति निर्विकार भावनासे ही हो सकती है। अपनेको जिस रूपमें निरखो बराबर, अपना विकास उस रूपमें होगा। जो पुरुष मैं कायर हू, निर्बल हू, दीन हू ऐसा बारबार विचारेगा उसमें ये ही ऐब प्रकट हो जायेंगे। जो जीव अपने स्वभावकी संभाल करेगा, मैं प्रभुवत् शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हू, मुझमें अतुल बल है, मेरी अतुल महिमा है, ऐसी अपनी बारबार भावना करें तो उसमें पौरुष प्रकट होगा, ज्ञानबल बढ़ेगा। अपनेको निर्विकार भावो। मैं स्वतन्त्र हू, निश्चल हू, निष्काम हू ज्ञाताद्रष्टा हू, यह है अपने आपकी अविकार भावना-ऐसा बारबार भावो तो यही बात प्रकट हो जयगी। जैसे नाटक मे कोई किसीका भेष रखकर नाटक करता है, वह नाटक करने वाला पुरुष इतना विभोर हो जाय कि अपना नाम अपना असली काम जैसा कि वह पुरुष है उसे भूल जाय और जिसका भेष रक्खा है केवल उस रूप ही मान ले तो यदि उसका पाठ किसीको मार डालनेका है तो वह मार डालेगा। यदि उसे थोड़ा यह बोध है कि मैं तो अमुकचद हू। यह तो मैं नाटक कर रहा हू तो वह न मारेगा। जैसी भावना रखता है जीव, वैसी ही अपनी प्रवृत्ति करता है।

स्वरूपभावनामें सकटसमापन—अपने उत्थानके लिए अपने आपकी निर्विकार भावना बनाना चाहिए। मैं अपने स्वभावसे कभी चलित नहीं हो सकता ऐसा मैं निश्चल हू। मेरे अस्तित्वमें, मेरे स्वरूपमें कम ही क्या, किसी भी कषायका, इच्छाका प्रवेश भी नहीं है। मैं ऐसा निष्काम हू। जिस शरीरमें बस रहे हैं। जो शरीर मुझपर लदा है उस लादे हुए शरीरको भूल जाओ। शरीरकी बात शरीरमें है, आत्माकी बात आत्मामें है। मैं आत्मस्वरूपसे अपना नाता जोड़ूँ और जो आत्मामें बात बसी हुई है उसको मुख्यतासे देखूँ, ऐसा देखने पर न केवल शरीरक षष्ट मिटेगा, किन्तु जितनी चिन्ताएँ इस जीवको हो जाया करती हैं वे सब चिन्ताएँ एक साथ समाप्त हो जायेंगी।

आत्माकी सकटहारिणि सुगम श्रेष्ट कला—इस पर्याय पर नजर रखकर बाहर देखा करते हैं तो विपदायें हम पर मडराती हैं। हम अपने

आपमें प्रवेश करके अपने आत्मस्वरूपमें तकेंगे तो समस्त विपदायें समाप्त हो जायेंगी। जैसे जमुना नदीके कछुवा पानीके ऊपर सिर निकालकर पानीमें तैरते जाते हैं तो पक्षी उन कछुवोंको चोंटनेके लिए चारों तरफसे आ जाते हैं। अरे कछुवे क्यों व्यग्र होते हो? तेरे व्यग्र होनेकी क्या जरूरत है? तुझमें एक ऐसी कला है जरा सा चार अंगुल पानीमें अपनी चोंच डुबा ले फिर सारे पक्षी तेरा क्या करेंगे? ऐसे ही यह पुरुष अपनी उपयोगकी चोंच अपने इस ज्ञानसमुद्रसे बाहर करके डोल रहा है तो इस पर अनेक संकट मडरा रहे हैं। अरे घबड़ानेकी क्या जरूरत है? तेरेमें एक कला है कि तू अपने उपयोगको अपनी ज्ञाननिधिमें डुबो दे तो तेरे सारे संकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। हम आपका शरण अपने स्वरूपका झुकाव है। हमें अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि बनाये रहना चाहिए।

वचनसलिलैर्हासैः स्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरै—
र्वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो,
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥१२६॥

साधुवोंको स्त्रियोंसे दूर रहनेकी चेतावनी—साधुजनोंको स्त्रियोंसे अति दूर रहनेकी चेतावनी देते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जैसे सुन्दर सरोवरमें कोई प्यासा अपनी प्यास बुझाने जाय और तटपर पहुंचते ही उसे मगर आदिक कोई क्रूर जलचर जीव उसे गुप्त ले तो जैसे उसने चाहा तो था तृषा शान्त करके विश्रामका पाना, किन्तु हो गया प्राणघात। इसी प्रकार कोई निर्बुद्धि पुरुष बाह्यमें रमणीय स्त्रीके निकट जाता तो है वेदना मिटाने, सुख पाने, किन्तु वहां विषयवेदनामें विह्वल होकर अपना होश खो देता है व पाप ग्राहसे ग्रस्त जाता है, इसके परिणाममें एकेन्द्रियादिक पर्यायोंमें उत्पन्न होकर चिरकाल तक दुःख सहता है।

स्त्रियोंको सरोवरीकी उपमाका भाव—यहां स्त्रियोंको सुन्दर सरोवरीकी उपमा दी है। जैसे सरोवरी याने तालावमें सुखकारी लहरोंसे व्याप्त स्वच्छ जल पाया जाता है ऐसे ही वक्रोक्ति रागिनी आदि सुखकारी तरंगोंसे व्याप्त हास्यभावसे स्वच्छता मन प्रियताको विस्तारनेवाला वचन जल स्त्रियोंमें पाया जाता है। जैसे सरोवरी बाह्यमें कमलोंसे रमणीय लगती है इसी प्रकार ये स्त्रीजन भी बाह्यमें साज शृङ्गारसे सज्जित मुखकमलसे रमणीय लगती हैं। लेकिन सरोवरीमें मगर आदि क्रूर जलचर जीव बसते हैं, उस सरोवरीके तटपर कोई प्यासा प्यास बुझाने जाता है तो मगर आदि जलचर जीव उसे लील जाते हैं यों वह तृषावान मरणको प्राप्त होता है; इसी प्रकार स्त्रीजन बाह्यमें दूरसे ही रमणीय लगती हैं, ये शरीरसे

जैसे अन्तःमलिन हैं, यों ही विषय, मायाचार, कामीजनोंकी व्यथाकी कारण हैं, इनके निकट जो तृष्णावान् पुरुष सुख पानेकी आशासे जाता है वह क्लेश, संक्लेश, विकल्प, शल्य, तिरस्कार आदि पापभावोंका शिकार हो जाता है। इसके फलमें चिरकाल तक कुयोनियोंमें भटकना पड़ता है।

हे आत्मकल्याणार्थी भव्य जनो! आत्मशान्तिके लिये तुम अपनी आत्मानुभूति निजरमणीमें ही विश्वास करो, प्रकट भिन्न अशुचिधाम स्त्री जनोंमें हितका व सुखका श्रद्धान मत करो। अपनी ओर रमकर अपने सहज आनन्दसे तृप्त रहो।

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः सत्रासिता सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जन मृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधियस्याकुला. ॥१३०॥

घात स्थानका स्मरण—साधुजनोंको सबोधते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि हे भव्य पुरुषो! स्त्रीजन तो तुम्हारे घातका स्थान है, तुम जगत् के चारों ओरके विषयोंकी वाञ्छाकी वह्निके आतापसे बचनेके लिये अर्थात् शान्ति पानेके लिये स्त्रीकी शरणमें जाना चाहते हो, वह तो तुम्हारा घात स्थान है। यहा रमकर कामविकार और कुचेष्टाओंसे पीडित होकर भ्रष्ट होओगे और आकुलताको ही प्राप्त होओगे।

घात स्थानका विवरण—जैसे किसी प्रधान शिकारीके किंकर शिकार करानेके लिये जंगलमें जिस जिस ओर हिरणादिक रहते हैं वहां वहा वनमें आग लगा देते हैं और एक स्थान शिकारका बना देते हैं। अब वे हिरणादिक पशु आगके भयसे उस उस स्थानको छोड़कर घातस्थान पर पहुचते हैं यह सोचकर कि हमें इस स्थान पर शरण मिल जायगा, किन्तु उनका उसी स्थान पर घात हो जाता है। ऐसे ही प्रधान शिकारी कामशिकारी के इन्द्रियरूपी किंकर जीवको मारनेके लिए याने भ्रष्ट करनेके लिये समस्त रूप रस गंध स्पर्श विषयोंमें राग कराने रूप आग लगा देते हैं, वहा यह जीव राग भावकी आकुलतासे पीड़ित होकर एक स्त्री पदार्थको शरण स्थान समझकर स्त्रीमें रमण करता है, किन्तु वह तो आत्माका घात स्थान है। यहा वह कामविकारी शिकारी कुचेष्टा कुभाव तृष्णा मूढता आदि बाणोंसे इस जीवको भ्रष्ट कर देता है।

साधुशिक्षण—हे मुमुक्षु जनो! अपनेके सुखके लिये स्त्रीको शरण स्थान मत मानो, वह तो तुम्हारा घातस्थान है। असार मायामय अशुचिविधाम असमानजातीय द्रव्य पर्यायरूप स्त्रीशरीर रमणके योग्य नहीं है। स्त्रीसे विरक्त होकर सहज शुद्ध चिच्छक्तिमें रुचि करो। आत्मीय सहज

शक्तिके अवलम्बनसे अवश्य ही कल्याण होता है, सदाके लिये सकटोंसे मुक्ति मिल जाती है, अतः अपनेको शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूप मात्र अनुभव कीजिये।

अपत्रप तपोग्निना भयजुगुप्सयोरास्पद,
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो,
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥१३१॥

व्यामोहकी विड्रूपता--दीक्षा धारण करके फिर मनकी संभाल न होनेसे कामविकारके कारण स्त्रियोंमें अनुरागी होकर भ्रष्ट होनेके सन्मुख है, उसे यहाँ आचार्यदेव सम्बोध रहे हैं कि हे सुखार्थी पुरुष! कठिन-कठिन तपश्चरणोंसे तेरा तो यह शरीर अधजले मुर्दाकी तरह भय और घृणाका स्थान बन गया है, तेरे इस भयानक शरीरको देखकर स्त्रीजन तो डर मानते हैं और तू ऐसा निर्लज्ज हो गया है कि चित्तमें स्त्रियोंके प्रति अनुराग बसाता है। ऐसा व्यामोह करना तुझे बिलकुल भी उचित नहीं है।

विकारमें दयनीय स्थितिका चित्रण—हे मुने! तेरे चित्तमें यदि कामविकार जगा है तो जरा अपनी दयनीय स्थिति पर विचार तो कर-- तू अविवेकी बनकर स्त्रियोंके प्रति आकर्षित हो रहा है और ये स्त्रीजन जो प्रकृत्या चंचल हैं, कायर हैं ये तेरे अधजले मुर्दे जैसे शरीरको देखकर तेरा हास्य करती हैं और भूत जैसी डरावनी सकल देखकर दूर ही दूर भागती हैं। ससारतारक इस साधु पदवीको अङ्गीकार करके तुझको कामवश व परवश होने जैसी चेष्टा शोभा नहीं देती है, यह सब यत्न तो तेरे घात का ही है। सकल आरभ परिग्रहको त्यागकर निर्ग्रन्थ पद धारण किया है तो अब तुझको अपना भला ही करना योग्य है।

उत्तुङ्गसंगतकुलाचलदुर्गदूरमाराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम्। रोमावलीकुसृतमार्गमनङ्गमूढा', कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ॥१३२॥

विषय व्यामोहमें खिन्नता--जिस स्थानकके मार्गमें ऊँचे ऊँचे तो पर्वत मिलते होंय और जहाँ दुस्तर विषम नदी होय, वृक्षोंकी सघनताके कारण जो स्थान दुर्गम होय, उस स्थान पर पहुंचनेमें तो महा खेद होता है। ऐसे स्थानोंसे भी अधिक भयंकर दुर्गम स्त्रीके योनिस्थानके प्रति कौन खेद खिन्न न होगा? इस कुचेष्टासे नियमसे अतीव आकुलता उत्पन्न होती है। इस छदमें दृष्टान्तके अनुरूप स्त्री शरीरमे पर्वत, नदी, वनराजी, मार्ग की दुर्गमता आदि सब बताये गये हैं। तात्पर्य यह है कि यह अशोभन स्थान रमणके योग्य नहीं है। हे भव्य पुरुष! किसी दुष्प्रभावके कारण तू

प्रत्यक्ष खेदकी बातमें सुख मानता है। जैसे लौकिक दुखिया पुरुष किसी विसंवादमें अपना ही शिर फोड़नेमें सुख मानते हैं ऐसे ही तू कामसे पीड़ित हुआ खेदमयी विकारमें सुख मानता है। तू कामविकारको ही मूल नष्ट कर दे। फिर तेरा मंगल ही मंगल है।

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य, नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्रमाहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः॥१३३॥

विषय स्थानकी अशोभनता—इस प्रकरणमें आचार्यदेव साधुजनोंको पूर्ण निष्काम देखना चाहते हैं अतः उनको लक्ष्यमें रखकर जैसे भी वे कामविकारसे विरक्त हो सके वैसे उन्हें समझा रहे हैं। देख, स्त्रीजनोंका यह जघन्य स्थान विषयीजनोंका विष्टागृह है, कामशस्त्रका यह घाव है, दुर्गमगोक्षाचलका यह प्रच्छन्न गड्ढा है अथवा यह कामरूप सर्पका वास स्थान बिल है। यहाँ निकट पहुंचने पर कामसर्प डस लेता है और इस जीवको भ्रष्ट कर देता है। ऐसे अशोभन स्थानके लिये तू रंच भी विकल्प न कर। कामविषयक चिन्तनको त्यागकर शुद्ध सुगम स्वाधीन चित्तत्त्वका चिन्तन कर।

अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे,
व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा।
प्रोचे प्रीतिकरी जनस्य जननी प्राग्जन्मभूमिश्च या,
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद् वञ्चितम्॥१३४॥

संयम भ्रष्टताका उपाय—जैसे वनहस्तीको बन्धनमें करनेका भ्रष्ट करनेका उपाय गड्ढेके ऊपर बनाई हुई कपटकी हथिनी है। वनका हाथी वनकी शोभा निवासकी उपेक्षा करके विषयसेवनके लोभसे अपनेको गड्ढे में पटक लेता है। ऐसे ही वनवासी-तपस्वी जनोंका बन्धनमें आनेका भ्रष्ट होनेका साधन स्त्रीका जघन्य स्थान है। अशक्त साधु तपोवनको प्राप्त करके भी उस पदके शान्तिमय वातावरणकी उपेक्षा करके विषय सेवनके लोभसे स्त्रीरमणमें आसक्त हो जाते हैं और इस लोक व परलोक दोनों जगह कष्ट सहते हैं।

विषय वैराग्यकी उक्ति—देखो भैया! स्त्रियोंका योनिस्थान तो इस पुरुषकी जननी व जन्मभूमि है। इससे यह माताका रूप है। किन्तु कुकवि जनोंने इसे अहित मिष्ट राग शृङ्गार भरे वचनोंसे ऐसा बहकाया है, अनेक युक्ति उपमा देकर स्त्रीके अङ्गोंको रमणीक दिखाकर विकारमें डाला है कि फिर यह कामी विवेकको तिलाञ्जलि देकर अपनी बरबादी कर डालता है। हे कल्याणार्थी पुरुषो! किसी भी कामी कुकविके बहकावे

में आकर काम स्थानोंमें अनुरागी मत होओ।

कण्ठस्थः कालकूटोपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियोहि विषमं विषम् ॥१३५॥

विकारविजयकी प्रेरणा—रुद्रके कण्ठमें कालकूट विष बताया गया है। उस महाविषने भी रुद्रका कुछ अनर्थ न कर पाया, किन्तु स्त्रियोंके द्वारा वह भी कामातापमें जलता रहा। अहो स्त्रीजन विषम विष हैं। देखो कामी जनोंकी मूढ़ता, ये कामी जन, कुकविजन ऐसे विषम विषको भी अमृत बता डालते हैं, सुखकारी कहते हैं। हे आत्महितार्थी पुरुष! कामको, कामके साधनको अहितरूप जानकर उस अहितसे दूर होओ। लोगोंकी देखादेखी से, कुकवियोंके वचनोंसे स्त्रीजनमें रंच भी विकारभाव मत लाओ।

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे,
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी,
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥१३६॥

उपमामें शिक्षारहस्य—कविजनोंने, अनुरागी पुरुषोंने स्त्रीके शरीरको जो चन्द्रमा आदिकी उपमा दी है और उस वर्णनको सुनकर सर्वदोषोंका स्थान होने पर भी यदि तेरी प्रीति स्त्री शरीरमें होती है तो सुन, जिसकी उपमा दी जाती है वह तो उपमेयसे उत्कृष्ट होता है तो इस वर्णनको सुन कर तू शुभ और पवित्र चन्द्रमा आदिसे प्रीति कर ले। इनसे ही प्रीति करना भला है। कामरूपी मदिराके मदसे बेहोश और अन्ध होनेमें तो कुछ भी भलाई नहीं है।

कामान्धताको दूर करनेका भाव—किसीने स्त्रीके मुखको चन्द्रमाकी उपमा दी तो चन्द्रमा तो मणियोंसे रची गयी कान्तिमान् पवित्र चीज है। यह मुख तो हाड़ मास रुधिर आदिसे बना हुआ है। मुखकी चन्द्रमासे क्या समानता है? यदि तेरी समझ चन्द्रकी उपमासे कुछ बनी है तो तू चन्द्र की प्रीति कर, स्त्रीके शरीरमें प्रीति मत कर। अहो जैसे मलकीट मलमें ही राजी होता है ऐसे ही यह कामी पुरुष अहित युवतिशरीरकी ओर आकर्षित होता है। कामान्ध पुरुष तो महान् अन्धा है। हे कल्याणार्थी पुरुष! कामान्धताको दूर कर, विवेकी होनेमें ही भला है। अब विषयरति तज कर आनन्दघन ज्ञानपिण्ड निज अन्तस्तत्त्वमें प्रीति करो।

प्रियामनुभवत् स्वय भवति कातरं केवलं,
पुरेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुट ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतो,
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥१३७॥

मनकी नपुंसकता और हैरानी—मनकी प्रवृत्तियोंसे मनुष्य बड़े हैरान रहते हैं। कोई विवेकी पुरुष इसकी भी चिन्ता करने लगते हैं कि मन जब विकारी व स्वच्छन्द हो जाता है तब क्या किया जाय ? उनकी चिन्ता दूर होनेका उपायभूत विज्ञानकी झलक इस छन्दमें मिल जाती है। देखो प्रिया को भोगता हुआ मन तो केवल कायर रहता है, भोग नहीं सकता, मन तो भोगनेवाली इन्द्रियोंके काममें ही हर्ष मानता रहता है। रूप रस गंध स्पर्श शब्द तो इन्द्रियोंके ही विषय हैं, इनके भोगनेमें मनकी कहां गति है। मन तो भोगते हुए इन्द्रियोंको निरख निरखकर ही खुश होता रहता है। यह मन नपुंसक है। नपुंसकोंकी ऐसी ही वृत्ति होती है।

मनकी नपुंसकताका विवरण—यह मन शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे भी नपुंसक है। मनस् शब्दके रूप नपुंसक लिङ्गमें चलते हैं, यथा मन मनसि मनांसि आदि। सिद्धान्त शास्त्रमें यह भी बताया है कि नपुंसक वेद उसे कहते हैं जिसके उदयसे पुरुष व स्त्री दोनोंके साथ रमनेके भाव हों। देखिये रमनेके भाव तो दोनोंके साथ होते हैं किन्तु नपुंसक किसीके साथ भी रम नहीं सकता। यही हालत मनकी है। मन तो स्त्री व पुरुष दोनोंके होता है। कोई मन पुरुषसे रमना चाहता है व कोई मन स्त्रीसे रमना चाहता है। नपुंसकके भी मन होता है। कोई मन दोनोंसे रमना चाहता है, किन्तु मन किसीके साथ भी भोग नहीं करता। यह तो पर-इन्द्रियोंकी चेष्टाको देखकर खुश होता रहता है। यों मन शब्दादि शास्त्रसे भी नपुंसक सिद्ध होता है।

आत्माके प्रमादसे मनका हामी होना—यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि मन कायर नपुंसक होने पर भी सुधी पुरुष पर हामी रहता है। यह सुधी अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा शब्दशास्त्रसे भी पुरुष लिङ्ग है और अर्थ से भी पुरुषलिङ्ग है। सुधी शब्द व्याकरणमें पुल्लिङ्ग है। सुधीका समासार्थ इस प्रकार है। अच्छी है बुद्धि जिसके वह सुधी है। इसमें बुद्धिरूपी स्त्रीका धनी पुरुष ही होता है। यों यह सुधी शब्दसे व अर्थसे दोनों प्रकार से पुरुष है, तिसपर भी इसपर मन हामी रहता है यह आश्चर्यकी बात है। अथवा इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। यदि यह सुधी पुरुष अपने पुरुषार्थको सभाले तो इसे रंच भी परेशान नहीं कर सकता।

मनोविकारके विलयका उपदेश—गत इन १२ छन्दोंमें पूर्ण निष्कामता प्राप्तिके ध्येयसे साधुजनोंको सबोधते हुए आचार्यदेवने युवितियोंके शरीरकी अशुचिताके प्रतिपादनकी मुख्यतासे वैराग्यकी शिक्षा दी है। हे कल्याणार्थी साधु-पुरुषो ! मनको बलवान समझकर अपने पुरुषार्थसे च्युत न होओ, अपने स्वभावावलोकनरूपमहा पुरुषार्थको सभालकर मनके

धिकारका विनाश करो।

प्राकरणिक अन्तिम संदेश—हे मोक्षार्थी पुरुषो! मोक्षोपलब्धिके लिये जिस अनुभूतिकी आवश्यकता है वह अनुभूति मनके द्वारा प्राप्य नहीं है, फिर मनसे तुम हितकी आशा ही क्यों रखते हो। मन संकल्प विकल्पों का कारण बनकर तुम्हारी बरबादी ही करता है। मनके विकल्पोंका परभाव असार मायारूप जानो। अपने परमार्थ स्वरूपको निहारो। ऐसा चिन्तन करो कि यह मैं आत्मा स्वभाव मात्र हू, यह मैं चैतन्य स्वभाव परपदार्थोंसे व परभावोंसे भिन्न हूं, परिपूर्ण हू, अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे सत हू, आदि अन्त मध्यसे रहित हूं, एक अपनेमें अद्वैत हू, इतना ही नहीं, इन सब संकल्प विकल्पोंसे मुक्त हूं। अपने सहजस्वरूपके परिचय व अनुभवमें ऐसी महती शक्ति है कि इस अनुभूतिके प्रतापसे यह आत्मा शाश्वत निराकुल व निःसंकट हो जाता है। हे आत्महितैषी भव्य पुरुष! मनकी आधीनता त्यागकर सहज निज स्वरूपकी रुचि करो।

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरु तपः पूज्यमत्रापि यस्मात्,<br>
त्यक्त्वा राज्य तपस्यन्नलघुरतिलघु: स्यात्तपः प्रोह्य राज्यं।<br>
राज्यात्तस्मात्प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं,<br>
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥१६८॥

राज्य और तपमे श्रेष्ठताका वर्णन—इस लोकमें मनुष्योंके लिए सबसे बड़ा वैभव लौकिक सौजन्ययुक्त राज्य माना गया है। बड़ी नीतिपूर्वक सुजनतासे सहित राजकाज होना इस लोकमें एक बड़ा वैभव माना गया है। लौकिक दृष्टिसे सभी लोग समझते हैं। जिसका राज्य हुआ, शासन हुआ ऐसा राजा सभी मनुष्योंके द्वारा उत्कृष्ट माना जाता है। सभी उसकी आज्ञामें रहते हैं और उसकी उत्कृष्टता मानते हैं। यह लौकिक दृष्टिसे कहा जा रहा है। तो एक ओर तो रख लो सुजनतासे सहित राज्य और दूसरी ओर रख लीजिए उत्कृष्ट श्रुतज्ञान सहित ज्ञानी पुरुषका उग्र तप। अब इन दोनोंमें अन्तर निरखिये। राज्य और तप इनमें पूज्य क्या है?

राज्यसे तपकी उच्चता—राजा लोग भी उग्र तपस्वीके चरणोंमें सिर नवाते हैं। इससे ही जाहिर है कि राज्यसे भी बढ़कर तप है, वह पूज्य है। राज्यको छोड़कर लोग तपश्चरण करते हैं। ऐसा होनेमें लोग उत्कृष्टता समझते हैं। और कोई तपश्चरणको छोड़कर राज्य संभालले तो उसको लोग हीनतासे देखते हैं। जो लोकमें सबसे उत्कृष्ट वैभव माना जाता है ऐसे राज्यको छोड़कर तपश्चरण करे तो वह महान माना जाता है। और कोई तपश्चरणको छोड़कर राज्य संभाल ले तो वह अति लघु माना जाता है। शायद कोई ऐसा दृष्टान्त तो होगा नहीं कि कोई राजा राज्य छोड़कर

तपस्या करने लगा हो, दीक्षा ले ली हो। ऐसा कोई पुराणोंमें दृष्टान्त सुना है क्या? ऐसा कहीं आमरूपसे नहीं होता है। और, कदाचित् विरलोंको हुआ हो तो तुरन्तके तुरन्त दिनके दिन ऐसा कर लिया हो तो कर लिया हो। कोई वर्ष दो चार वर्ष तपस्या कर ले और फिर उसे कोई राज्य पर बैठाल ले या राज्य करने स्वयं जाय, ऐसा तो हुआ ही नहीं है। इससे तो यह जाहिर है कि लोक भी उसे अत्यन्त लघु समझता है जो तपश्चरणको त्यागकर राज्य करने जाय। प्रथम तो कोई राज्य करने ही न देगा। दूसरे उतने दिनोंमें कोई राजा तो हो ही जायगा। फिर वहाँ बनेगी नहीं। तो जो महान वैभव लोकमें माना जाता है उस महान वैभवको त्यागकर कोई दीक्षा ले तो फिर वह उलटकर नहीं जाता, इससे सिद्ध है कि तप उत्कृष्ट है, राज्य नहीं।

वैभवत्यागके बाद उच्चताकी प्रकृति—कुछ लोग ऐसे होते हैं कि दीक्षा तो ले ली और मुनि होकर उस भेषसे बहुत कुछ कमाकर परिवारका पोषण करें तो सच जानो कि उन्होंने त्यागा ही कुछ नहीं। उनके पास वैभव था ही नहीं। कोई किसी वैभवको त्यागकर साधु बने तो उसके इतना परिणाम फिर उलटने कठिन है। उसको तो इस ओर उत्साह होगा कि मैंने वैभव त्यागा, अथवा मैं इतना विद्वान था, प्रोफैसर था, पंडित था, इतनी मान्यता थी, और वहा भी बड़ी अच्छी आजीविका थी, उसको त्यागा। कुछ तो त्यागा। तो इतनी बड़ी चीज त्यागनेके बाद फिर उसको उलटकर कुछ विकल्प नहीं आता। जिसके पास कुछ है ही नहीं, रसोइया बनकर रोटी बना बनाकर जो हैरान हो गया, उपाय बना लिया दीक्षाका तो उसने कुछ त्यागा ही क्या? त्याग करके फिर उस ओर प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है। इससे जानो कि तप उत्कृष्ट पूज्य होता है।

परमार्थमें आनन्दकी प्रेरणा—हे बुद्धिमान पुरुषो! मनसे ऐसा चिन्तन करके अब संसार जन्म मरणकी परम्परा मिटाने वाले इस वास्तविक तपश्चरणको अंगीकार करो। वस्तुके स्वतन्त्रस्वरूपको जानकर किसी परवस्तु में अपना रागद्वेष न करना, परकी उपेक्षा करके अपने आपके ज्ञानस्वरूप में अपने ज्ञानको मग्न करना, यही है परमार्थ तपश्चरण। जिसको वहां आनन्द प्राप्त हो जाता है वह छोटे मौजके लिए उत्सुक नहीं होता है। जैसे रसीले स्वादिष्ट भोजनका आनन्द पाकर फिर कोई सूखे कोदो समा की रोटी खानेकी उत्सुकता नहीं रखता है। एक मामूली-सी मिसाल है। जिस पुरुषने समस्त परद्रव्योंसे उपेक्षा करके अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें अपने ज्ञानको लगाया, अपने ज्ञानको ज्ञानप्रकाशमें मग्न किया उस उत्कृष्ट पूज्य अनुभूतिसे जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दको भोगकर फिर

ज्ञानी पुरुष असार भ्रमपूर्ण आकुलतासे भरे विषय सुखोंमें उत्सुक नहीं हो सकता है।

आत्मनिधिके अपरिचयका परिणाम—जो लोग अपने मनमें यह शिकायत रखते हैं, दूसरोंसे पूछते हैं कि मैंने इतने तो साधन बनाये, पर मन धर्मकार्यमें नहीं लगता, उसका कारण ही यह है कि जो सत्य आनन्द है उस आनन्दकी अनुभूति न पायी। शान्तिके लिए लोग अनेक अनेक यत्न करते हैं। उन यत्नोंमें कोई लाभ तो मिल नहीं सका, बल्कि किसी किसी यत्नमें हम जितना बढ़ते जाते हैं उतने ही अशान्त होते जाते हैं। प्रायः करके प्रत्येक मनुष्य अपनी पिछली स्थितिको फिरसे चाहता होगा, अथवा न चाहता हो तो वर्तमान स्थितिमें पछतावा तो करता होगा। इससे अच्छा तो मैं पंद्रह साल पहिले था, २५ साल पहिले था। उस समय मैं अपनी सन्ततिकी दृष्टि करता तो मैं आज कहींका कहीं पहुंचा हुआ होता। ऐसा पछतावा प्रायः प्रत्येक बड़ी अवस्था वाले लोग करते होंगे क्योंकि जितना यत्न किया है उतना ही और फँसते गये।

फसनेका यत्न—जैसे मक्खी कफमें बैठ जाय तो जितना वह छूटने के लिए परिश्रम करती है, हाथ पैर फैलाती है उतना ही कफमें और भिड़ जानेसे फँस जाती है। ऐसे ही बाह्य पदार्थोंकी दृष्टि करके हम जितना यत्न करते हैं उतना ही उस ओर फँसते चले जाते हैं। फँसना क्या ममता का बढ़ना है। कभी कुछ ज्ञान जगने पर लोग ऐसा सोचते हैं कि हम अपनी आर्थिक स्थिति ऐसी बना लें, इतनी बना लें फिर हम निवृत्त हो जायेंगे। प्रथम तो इतनी स्थिति बन जाय यह कुछ आधीन नहीं है। कहो और बिगड़कर उससे भी आधी रह जाय। यह भी परिस्थिति आ सकती है। और कदाचित मनचाही परिस्थिति बन जाय तो निवृत्त होनेके बजाय उल्टा फँसाव बढ़ जाता है। जब परका थोड़ा संसर्ग हुआ तो उसकी संभालमें थोड़ी चिन्ता होती है। जब सम्बंध परका अधिक होता है तो चिन्ताएँ भी अधिक होती जाती हैं। फल यह होता है कि फँसना ही पढ़ता है, निवृत्ति नहीं बनती है।

निवृत्तिका कर्तव्य—बुद्धिमान् पुरुषको यह चाहिए कि वह अकिञ्चनता विरागता, निवृत्ति, उपेक्षाकी ओर बढ़े। यह बात तभी तो बने जब मूलमें यह श्रद्धान तो रहे कि सब जीव एक समान हैं। जैसा मैं जीव हू वैसे ही कल्पनामें माने गये परिजन तथा अन्य जीव भी है। सबका स्वरूप समान है। न गैरोंसे मुझे कुछ हानि होती है और न परिजनोंसे कुछ लाभ होता है। बल्कि गैरोंके प्रति राग रोष नहीं हुआ अतएव हम लाभमें रहें और परिजनके प्रसंगमें रागद्वेष चिन्ता आकुलताएँ अनेक हुए इसलिए

हानिमें रहे। भूलमें जब इतनी दृष्टि जगे तो परकी उपेक्षा हो। इसमें ही कल्याणका मार्ग मिलता है।

भविष्यकी सावधानीका स्मरण—भैया! ज्ञानानुभूति ही एक सार और शरण है, अन्यथा करते जाइए जो मनमें बसा हो, स्वच्छन्दता बना लीजिए। क्योंकि कुछ पुण्यका उदय है, कुछ चला है, कुछ कला प्रकट है, बुद्धि अच्छी है, सो विषयकषायोंकी लीला बना लीजिए। होगा क्या अन्त में यह भव ही छूट जायगा समागम छूट जायगा। छल कपट करके अपना कुछ यश बनाया, नाम बनाया, चला बनाया तो ये कुछ काम न देंगे। परभवके लिए तो सीधा न्याय होगा। जैसा यहाँ कर्मबंध किया उसका उदय होनेसे वैसा ही परिणमन बनेगा। दो इन्द्रियमें जन्म लेनेका बंध हुआ तो मरकर एकदम यशविस्तार और एकदम कीट बन जाय। यदि इसी भवमें ऐसी अनहोनी बात बने तो आश्चर्य माना जायगा, पर इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। न्याय हो रहा है।

पूर्व भावानुसार भविष्य—भैया! स्वरूप परिणति पद्धतिसे देखो तो लोकमे अन्याय कहीं नहीं होता है। सर्वत्र न्याय हो रहा है। न्यायके मायने जिस निमित्तके प्रसंगमें जैसे उपादानमें जिस प्रकारका परिणमन होना चाहिये उस प्रकारका परिणम जाना, इसका नाम है न्याय। हो तो मिथ्यात्वका उदय और हो जाय सम्यग्दर्शन तो इसे अन्याय कहेंगे। अन्याय कभी हुआ नहीं, अन्याय कभी होगा नहीं। यह तो हम आप लोग रागवश चाहते कुछ हैं और उस चाहके अनुकूल बात बनती नहीं है तब हम उसे अन्याय कहने लगते हैं। यह तो व्यक्तिगत बात है। अब सामूहिक दृष्टिसे देखो—सामूहिक रूपसे यह जनसमूह चाहता है कि कोई रिश्वत न ले, अनुचित ब्लेक न करे, यों पैसा न कमाये। इसे यों पैसा क्यों मिल जाता है, उसकी व्यवस्था बनाना चाहते हैं, और व्यवस्था वहाँ बन नहीं पाती तो यह समूह भी कह उठता है कि यह अन्याय है। देखिये—लौकिक दृष्टिमें यद्यपि यह अन्याय है भ्रष्टाचार करना और पाप करना, झूठ बोलना, चोरी करना, खोटी खोटी बातें करना, ठीक है अन्याय है और इस अन्यायसे उस व्यक्तिका पतन है, घात है, वह कुगतिमें जायगा इसलिए अन्याय है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक योगकी ओरसे देखो तो जैसा उदय है तैसा परिणमन है, तैसी बात है। यह व्यवस्था भी तो रहनी चाहिए ना, नहीं तो सब अव्यवस्थित हो जायगा। तब परिणमन पद्धति की ओरसे यह न्याय कहलाया कि नहीं।

उत्थानके लिये महान् त्यागकी आवश्यकता—जो पुरुष अपने परिणाम मलिन रखता है, तृष्णाके आधीन है, यह अपना और कह गैर इसकी बड़ी

तेज मेज बना रक्खी है, ऐसे पुरुषोंकी जिन्दगी कोई हितकारक जिन्दगी नहीं है। ऐसी बात तो कूकर सूकर बनकर भी करते आये हैं ममता होना, किसीको अपना और किसीको गैर समझना, अपने ही मतलबकी बात सोचते रहना ये सब बातें पशुपक्षीके जीवनमें भी हुआ करती है। बुद्धिमानी तो इसमें है कि ऐसा यत्न बने कि यह जन्म मरणका चक्र ही शान्त हो जाय। मैं आत्मा जैसा शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अमूर्त स्वत सिद्ध हूं वैसा ही मैं रह जाऊँ, यह एक उत्कृष्ट वैभव है जीवका। ऐसा होनेका यत्न करे कोई तो वह है पुरुषार्थ। अब समझ लीजिए कि हमको कितना अपने जीवनका बलिदान करना होगा। किन किन वैभवोंका हम पर बोझ लदा है, हमें कितनी गदगियोंको समाप्त करना है; सोच लीजिए।

कुपथके अनाकर्षणका सन्देश—भैया! गलत रास्ते पर निःशंक होकर बढते चले जाने मे कुछ भी लाभ नहीं है। नहीं छोड़ा जाता है कुपथ तो शंका सहित तो कुपथका चलना देखें, निःशंक होकर तो न चलें, यही एकद शुद्ध पथ है और सत्य आनन्दका उपाय है, ऐसा मानकर कुपथमें न चलें। मैं उल्टी गैल चल रहा हू, इसमे मेरे को लाभ नही है, कुगति होगी, ऐसी शका सहित उस कुपथको देखिये। कर्मोंका ऐसा उदय चल रहा है तो चले पर भीतर यह ज्ञान भी तो कुछ न कुछ अपना काम कर सकता है। यह तो जानते रहें कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मेरा काम नहीं है। यह मेरे लाभकी बात नहीं है। कुपथको छोडे और तपश्चरणका आदर करे। बडे-बडे पुरुषोंने भी तीर्थंकर चक्री जैसे महापुरुषोंने भी बडे-बडे वैभवों को आखिर त्यागा ही तो था। और जिन्होंने नहीं त्यागा उन्हें भी आखिर त्यागना ही पड़ा। पुराने बडे-बड़े लोग नहीं रहे, जिनका कि पुराणोंमें वर्णन है। उनकी तो बात दूर जाने दो, जो आजके युगमें बड़े हुए थे, जिनको आपने आखों देखा है, जिनका प्रभाव देश विदेशमें छाया रहा वे भी नहीं रहे। आपके देखते ही देखते वे नहीं रहे। यही हालत हम आप सब पर गुजरती है। फिर क्या रहा, अन्तरङ्ग शुद्धि हुए बिना हम आपका गुजारा नहीं है।

ज्ञानसहित तपश्चरणका कर्तव्य—अन्तरङ्ग शुद्धि होती है निर्मोहतासे। निर्मोहता प्रकट होती है वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानसे। इस कारण ज्ञानमे बढ़ना और तपस्यामें बढ़ना अर्थात् ज्ञानसहित तपश्चरण करना यह है हम आप लोगोंका कर्तव्य। हम महिमा आके उस सम्यग्ज्ञान सहित तपश्चरणकी और उस परमार्थ तपश्चरणको आपके चित्तमें बसाये रहें। हम संयमसे न घबड़ायें, उसमें बढें। अपनी शक्ति प्रमाण उस साधनामे चलें और ज्ञानदृष्टिकी भावना बनायें। बस ज्ञान और वैराग्य ये दो ही

कदम हमारे भलेके लिए हैं, शेष तो सब कदम बहकावा मात्रके हैं।

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोपि नास्प्राक्षीत किं न कुर्याद्गुणक्षति ॥१३६॥

गुणकी आस्था—एक दृष्टान्तपूर्वक यह बात कह रहे हैं कि जब तक किसी व्यक्तिमें गुण विकसित रहते हैं तब तक वह लोकके द्वारा सिरसे धारण किया जाता है। गुणरहित हो जाय, पदभ्रष्ट हो जाय, श्रद्धा विहीन हो जाय, फिर उसे कोई नही पूछता है। जैसे जब सुगंध आदिक गुण होते हैं तब फूल सिर पर भी धारण किया जाता है, गलेमें भी धारण किया जाता है। जब उसके गुण नष्ट हो जाते हैं, फूल मुर्झा जाते हैं तब लोग फूलोंको चरणों तकसे भी नहीं छुवा करते हैं। गुणोंका जो नाश है वह क्या लघुता नहीं करता है? अर्थात करे ही करेगा। यह दृष्टान्त-पूर्वक समर्थन पूर्व प्रसगका है।

गुणविनाशमें लघुता—पहिले छंदमें कहा गया था कि जो राज्यको त्यागकर तपश्चरण धारण करके लोकमें पूज्य हुआ है और वह तपश्चरण धारण करने के पश्चात् फिर तपश्चरणको त्यागकर राज्यादिक आरम्भमें लगता है वह अत्यन्त छोटा हो जाता है, क्योंकि तपश्चरण एक महान गुण था। उस गुणके नाश होने पर फिर उसे लोग भी नहीं पूछते हैं, इस लोकमें जो महिमा है वह गुणोंके द्वारा ही महिमा है। और यह केवल एक धर्मात्मा व्रती जनोंमें ही नहीं तर्क किन्तु घरमें भी परिजन किसी एकको पूछते हैं ता वे किसी गुणके कारण ही पूछते हैं। दृष्टान्तमें कहा है कि फूलमे जब तक सुगंध आदिक गुण होते हैं तो महापुरुष भी उसे अपने मस्तकपर रखते हैं। उसही फूलके गुण नष्ट हो जायें तो कोई पैरों से भी उसे ठोकर नहीं देता है। ऐसे ही इस प्रकरणमें यह बात जानना कि ज्ञान-सहित तप होवे तो उसको मनुष्योंकी तो बात क्या, देव भी पूजते हैं, और वही पुरुष उस गुणसे भ्रष्ट हो जाय तो उसके पश्चात् उसका कोई संग भी नहीं करता है। सो गुणोंके नाश होनेसे लघुता होती ही होती है, इस कारण अपने गुणोंकी रक्षा अवश्य करना चाहिए।

निर्मोहताका गुण—गुणोंमें सिरताज गुण है निर्मोहता। जितने अन्याय लोकमें किए जाते हैं वे सब मोहवश किए जाते हैं। अन्याय करने को कौन नहीं समझता है, सबका दिल जानता है। जब कभी कोई अन्याय करता है तो चाहे किसी तृष्णाके कारण उस अन्यायको छोड़ न सके, अन्याय रखना ही पडे, लेकिन खटक अटक इस ज्ञानी जीवको सब हो जाती है कि मैंने यह अन्याय किया है। निर्मोहता एक परम गुण है। निर्मोहताके होते सहते एक धर्मभावना ही सामने रहती है। ऐसा साहसी

पुरुष, मोक्षमार्गी पुरुष धर्मके खातिर अवसर आने पर अपना सब कुछ समर्पण कर देता है परित्याग कर देता है। जिसने शान्तिका पथ, ज्ञान का प्रकाश जान लिया है ऐसे पुरुषकी दृष्टिमे महिमा ज्ञानकी होती है, जड़ वैभवकी महिमा नहीं होती है। एक ज्ञान गुणका जो प्रकाश है वह तो है महापद और जो ज्ञानगुणका घात है वह है अधमपद।

गुणोंसे महनीयता--जो पुरुष कुल या पदका अथवा भेष आदिकका सम्बन्ध करके बड़प्पन मानते हैं वह भ्रम है। कोई अच्छे कुलमें उत्पन्न हो गया तो इतने ही मात्रसे अपने को बड़ा मानना हो वह भ्रम है। बड़ा तो वह है जो शान्त रह सकता है। जो शान्त नहीं रह सकता है, उलटा बन्धन और फंसावमें बढ़ता है और उस मोह रागके फंसावमें ही भ्रम वश अपने को शुद्धमार्गगामी समझता है, जिसकी श्रद्धा यों विपरीत है वह पुरुष महान नहीं है, वह गुणशाली नहीं है। एक ही जीव जो गुणके होने पर वंदनीय था, कोई गुण नष्ट हो जाने पर वह निंद्य हो जाता है। तो पूर्वमें अन्य जीव गुणवान हुए थे उनकी नकल बाह्यमें तो की, किन्तु अन्तः आपः भ्रष्ट हुए तब उनके गुणोंसे यह कैसे वंदनीय हो? पूर्वके महापुरुष इस पंथपर, व्रत पथपर चलकर महान बने थे, नकल तो एक बाहर की हो सकती है, अन्तरङ्गकी नकल कौन कर सकता है, बाहरी नकल करके उन पूर्वजों जैसा बनना चाहे तो यह बात नहीं सम्भव हो सकती हैं। यह अपने ही वर्तमान गुणोंसे वंदनीय हो सकता है।

निर्दोष होनेका अनुरोध--भैया! अपना यत्न और पुरुषार्थ ऐसा होना चाहिए कि दोष रच भी न रह सके। किसी भी समय तत्त्व श्रद्धासे चलित न हो। कहीं ऐसी दृष्टि न बन जाय कि यह जीव जड़ वैभव से अपना महत्त्व, अपना आनन्द अपना कल्याण समझ लो। श्रद्धा यथार्थ रहे और वस्तुका स्वातंत्र्य बराबर विदित बना रहे और चाहे परिस्थितिवश कहीं खिंचे जा रहे हों पर अन्तरङ्ग निज अन्तस्तत्त्वकी ओर ही खिंचा रहे, ऐसी दृष्टि जिनके हो सकती है उनका महत्त्व अवश्यभावी है। दोष रच भी हों तो वह दोष लाभकारी नहीं है। गुण अधिक हों, दोष कम हों किसी दृष्टिसे वह उत्तम है, पर कोई उसमें सतोष करके ही रह जाय तो उसकी श्रेष्ठताकी निशानी नहीं है। इस ही मर्मको एक अन्योक्ति अलंकार से आचार्यदेव कह रहे हैं।

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्व,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्य. ॥१४०॥

चन्द्रोक्तिसे साधुसंबोधन—हे चन्द्रमा! तू लाञ्छन वाला क्यों हुआ? अरे तू पूराका पूरा काला होता तो अच्छा था। राहु कृष्ण रंगका होता है, उसकी निन्दा करने वाले लोग प्राय नहीं देखे जाते हैं। चन्द्रमा स्वच्छ है, शीतल है, कान्तिमान है, गुणशाली है तो भी उसमें जो थोड़ा बहुत कृष्णपनेका लांछन लगा हुआ है। जैसे कोई लोग कहते हैं कि यह हिरणका चिन्ह है, हिरण गोदमें लिए हुए है यह चन्द्र, और कोई साधारणजन कहते हैं कि इसमें चर्खा चलाती हुई बुढिया बैठी है। तो कोई अपनेको इस युगका विद्वान समझने वाला कहता है कि इसमें ये पहाड़ और पेड़ नजर आ रहे हैं। यों अपनी अपनी कल्पनासे सब उसकी आलोचना करते हैं। हे चन्द्रमा! तू पूराका ही पूरा क्यों नहीं काला हो जाता। फिर तेरे सम्बन्धमें लोग कुछ भी अगुली न उठाते। अत्यन्त अतिशयकर तेरे मलको बताने वाला ऐसा जो अविशेष रही ज्योतिसे क्या सिद्धि है? जो स्वच्छता है, कान्ति है यही तो तेरे दोषको बता रही है। इस गुण से इस कान्तिसे क्या सिद्धि है। यह विचार कर जो राहुकी तरह तू साराका सारा काला होता तो किसीके द्वारा लखने योग्य टोकने योग्य तो न होता।

साधुता के संरक्षणका आशय—इस छंदके अन्योक्ति अलंकारसे चन्द्रमाको उलाहना दिया है। प्रकृतमें तो कोई मुनि ऊँची पदवी रखकर उसमें दोष आये तो उसको उलाहना समझना। चन्द्रमाको क्या उलाहना देना? जैसे चन्द्रमा उज्ज्वल पदवीका धारक है और कुछ कालिमा दीख रही है तो उस कालिमाके कारण उसको कलंकी कहकर सभी लोग टोकते हैं और जो राहु साराका सारा ऊपर नीचे काला ही काला है उसका ऐसा ही पद जानकर कोई टोकता तो नहीं है। है काला, एक बार कह दिया। ऐसा ही निर्मल मुनि पदवीका जो धारक होता है और उसके कोई दोष लगा तो उसपर उसे कलंकी मान, सभी टोकते हैं और जो नीचेकी श्रावक पदवी के धारक अनेक जो लोग तो सब कलंकयुक्त हैं, दोष करके परिपूर्ण हैं तो लोग श्रावकका गृहस्थका ऐसा पद जानकर उसे कोई टोकता नहीं है।

साधुशिक्षण—यहां चन्द्रमाके दृष्टान्तके बहाने तपस्वीजनोंको सीख दी है कि तू दोषों सहित क्यों भया? जो दोष सहित होना था तो सर्व ही दोषयुक्त क्यों न हो गया। ऊँची मुनि पदवी छोड़कर नीची गृहस्थ पदवी ही अंगीकार करना था तो तू कोई ऊँची मुनि पदवीके बाह्य विधानको साधे है तो इससे क्या सिद्धि है। अन्तरङ्ग तो गृहस्थ जैसा है अथवा गृहस्थ होना चाहता है, और बहिरङ्गमें वे सब व्रत तपस्याके कष्ट सहे जा रहे हैं तो इन थोथे गुणोंसे क्या सिद्धि होगी? यह ही तेरे दोषोंको प्रकट करता है। जो तू गृहस्थ होता तो अन्य गृहस्थोंकी नाईं टोका तो न जाता। इसमें

हमारी यह शिक्षा है जो ऊँची मुनि पदवीको धारे वह ऐसे दोषोंको कदापि न करे और दोषों को धारे है तो मुनि पदको न धरे। यह ग्रन्थ मुनियोंको शिक्षा देनेके लिए बनाया गया है इस कारण अल्प भी दोष मुनिमें नहीं रहने चाहिए। ऐसी यहां शिक्षा की गयी है। इससे यह स्वच्छन्दता नहीं लेना है कि हम तो गृहस्थ हैं। जैसा चाहे रहे आयें, हम तो धर्मका घात नहीं कर रहे। अरे उपासक, श्रावक अरे गृहस्थ कहते ही उन्हें हैं जो मुनि पदवी धारण करनेका इच्छुक हों। जिनके चित्तमें मुनि धर्मकी श्रेष्ठता नहीं समायी है और अपने आपको मुनि बनानेका ख्याल नहीं है उन्हें उपासक नहीं कहा है, उन्हें श्रावक सद्गृहस्थ नहीं कहा है। चाहे वे कभी बन सकें इस भवमें या परभवमें, पर श्रद्धा यही एक पुष्ट रहती है। उद्धार होगा तो निर्ग्रन्थ अवस्थासे ही होगा। जब यह उपयोग समस्त परसे न्यारा ज्ञातानन्दस्वरूपमात्र अपने आपका ध्यान रक्खेगा, ऐसा ही अपने को अनुभवेगा तो उसे सिद्धिका मार्ग मिल सकता है।

भवसंकट—भैया! स्वच्छन्द पुरुषोंकी तो इस मार्गमें कोई कहानी ही नहीं है। कोई सोचे कि ऐसे व्रत संयम नियम तपस्यासे क्या लाभ है जिससे संकट ही संकट आते हैं। उनसे भले तो लो ये हम हैं कि कोई एक संकट भी नहीं आता। काहेका संकट? बाजारमें नगरमें प्रदेशमें जहां हों, जहा भूख लगी वहां ही कुछ खरीदकर खा लिया। जब प्यास लगी तब पानी पी लिया। अरे अपने आपके परमात्माको दुःखी करने से क्या लाभ? खूब मौजसे रह लो और जो संयम व्रतमें चलते हैं उनकी दशा देखो। पद-पद पर संकट हैं। तो उनसे भले तो हम ही हुए जिनको संकट का नाम ही नहीं है। लेकिन यह ख्याल नहीं है कि वास्तविक संकट क्या हैं और और आज मनुष्य हैं, मरकर कीड़ा मकौड़ा वनस्पति हो गये तो क्या तेरी निगाहमें यह कोई संकटकी बात नहीं है?

स्वरूपभानका प्रताप—भैया! सच तो यह है कि अपने आपके सहज स्वरूप का भान हो जाने पर फिर जो कुछ किया जाने योग्य है वह सब अपने आपसे बन जाता है। शान्ति क्या है और उस शान्तिकी पूर्वभावी अवस्था क्या है, इस सम्बन्धमें जिसके कुछ भान ही न हो तो वह जैसे कैसे भी धर्म करो परन्तु इस धुनिमें जो कल्पना आयी उसे करते हुए अपने को धर्मात्मा मान लेता है, ऐसे ही जिन्हें शान्तिका स्वरूप विदित नहीं है, अनुभवपूर्वक विदित नहीं है ऐसे लोग कैसे ही आडम्बरमें कैसे ही कार्यमें लगे उन्हें शान्ति नहीं है। मुझे तो शान्ति है ऐसा कल्पनामें समझ कर अपने आपको भ्रान्तिमें डाले हुए हैं। शान्ति उसका नाम है जहाँ आकुलता नहीं है। आकुलता न हो यह तभी सम्भव है जब निर्मोहताका

आदर हो। परिजन और कल्पित मित्रजनोंकी सम्मतिपर ही जिनका कदम रहता है वे संसारसागरसे तिरनेमें समर्थ नहीं है और जिनकी वीतराग देव, शास्त्र, गुरुकी ओर रुचि होती है, उनके बताये हुए पंथमें जिनका चित्त लगता है अथवा चित्त लगाने की जिनके चाह रहती है, उनका सन्देश जिनको उपादेय बना हुआ है ऐसे पुरुष ही संसारसागरसे तिर सकते हैं।

शिक्षाकी बेढगी विधि—भैया ! क्या कर्तव्य है अपना, इस सम्बन्ध में कुछ निगाह तो डालें जैसी बात सुनते सुनाते आये, बसाते आये उसही बातमें बसते चले जायें तो यही उद्धार है ? क्या जैन शासनमें धर्मकी यह विधि बतायी है कि हम विषयकषायोंकी अहितताकी बात करते जायें और विषय कषाय भोगते जायें। कोई एक पटेल किसान था उसे हुक्का पीने का बड़ा शौक था। वह अपने बच्चेसे चिलम भरवाया करता था। पटेल जब हुक्का पिये तो अपने पास अपने उसी बेटेको बैठाकर समझाता जाय कि देखो बेटा हुक्का न पीना चाहिए। हुक्का पीनेसे बहुत नुकसान है। काम यही रहे रोज रोज, अपने बेटेसे चिलम भरवाये, हुक्का पिये और अपने पास उसी अपने बेटेको बैठाकर रोज रोज समझाता जाय। वह पटेल तो मर गया। वह बेटा भी बड़ा हुआ। उसके भी लड़के हो गये। वह जवान बेटा क्या करे कि अपने बेटेसे चिलम भरवाये, हुक्का पिये और अपने बेटेको पासमें बैठाकर समझाता जाय कि बेटा हुक्का न पीना चाहिए, हुक्का पीने से बहुत नुकसान हैं। कोई समझदार पुरुष बोला कि तुम अपने बेटेसे ही चिलम भरवाकर उसके सामने हुक्का पीते हो और उसे हुक्का पीनेके लिए मना करते जाते हो तो इससे वह बेटा हुक्का कैसे न पीवेगा ? तो वह युवक किसान बोला कि यह तो मना करने की विधि है। ऐसा ही तो हमारा बाप भी करता था। वह भी हमसे चिलम भरवाकर हमें पासमें बैठाकर हुक्का पीता था और समझाता जाता था कि हुक्का न पीना चाहिए, हुक्का पीनेसे बहुत नुकसान है। तो यह तो विधि है कि खुद पीते जावो और बेटेको पीने के लिए मना करते जावो। ऐसे ही हम विषयकषायोंमें लगते जायें और धर्मके नामपर मना की बात करते जाएँ, क्या धर्म करने की विधि इस प्रकार है ?

गुणरक्षणका कर्तव्य—भैया ! हम अपने अन्तरङ्गमें कुछ तो पछतावा करें और इस आसक्ति पर कुछ अपना महसूस करके उसे मिटानेका यत्न करें। गुण होंगे तो हमारा कल्याण होगा। गुणोंका घात हो जायेगा तो हम दुर्गतियोंमें भटकेंगे। इस कारण अनेकानेक पुरुषार्थ करके हमें अपने ज्ञानादिक गुणोंकी सुरक्षा बनाये रखना चाहिए।

साधुके दोषका परिणाम—आराधनीय अपराजित मंत्र णमोकारमंत्र

माना है। णमोकारमंत्रमें किसी व्यक्तिको नमस्कार नहीं किया गया है, किन्तु आत्माके विकासको नमस्कार किया गया है। इन ५ विकासोंमें एक विकास है साधु परमेष्ठी। जो आराधनीय परमेष्ठी है उसका स्वरूप निर्दोष होना चाहिए। इसी कारण अनेक शास्त्रोंमें यह बताया गया है कि जो पुरुष यथाजातरूप धारण करके नग्नत्व दिगम्बर भेषको धारण करके तिलतुष मात्र भी परिग्रहको ग्रहण करता है थोड़ा बहुत अपनी शारीरिकादि साधनाके लिए अथवा जिससे ममत्व है ऐसे कुटुम्बीजनोंके लिए जो थोड़ा भी ग्रहण करता है वह निगोद जाता है।

साधुके निर्दोषताकी अनिवार्यता—लोग कह बैठते हैं कि हमसे तो ये तो अच्छे हैं, लेकिन यहाँ यह बताया गया है कि कोई गृहस्थ इतने परिग्रह में रहकर भी चूँकि वह उपासक है, मुनिधर्मकी भावना रखता है इस कारण उसकी सद्गति है, किन्तु जो साधु परमेष्ठीका भेष रखकर तिल-तुषमात्र भी जो अपने शरीरसाधनाके लिए अथवा कुटुम्बी जनोंके पोषण के लिए ग्रहण करता है किसी भी प्रकार लेता हो उसे निगोद बताया गया है। निगोद चाहे सुननेमें उतना बुरा न लगता हो जिसने न सुना हो कि निगोद क्या है तो कुछ यों ही सुन लेते होंगे। परन्तु यह जानियेगा कि निगोद संसारकी सब अवस्थाओंमें निम्नतम अवस्था है। नारकी जीव सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते हैं। भले ही उन्हें क्लेश है फिर भी विचारशक्ति मनकी शक्ति होनेके कारण उनके चित्तमें क्रियात्मक किया हुआ कुछ उजेला तो रहता है। पर निगोद जीव तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति—इन एकेन्द्रियोंसे भी निकृष्ट जीव हैं।

अवसरसे लाभ लेनेकी चेतावनी—भैया! किसी प्रकार निगोदसे निकल कर, विकलत्रयसे निकलकर, अन्य भी खोटी पञ्चेन्द्रियकी योनिसे निकल कर आज मनुष्य हुए, हैं कुछ दृष्टिपात करें तो बहुत कुछ हम उन्नति पर आये हैं लेकिन मोहवश कोई यहाँकी उत्कृष्टताका सदुपयोग न करे और अपनेको दीन हीन ही अनुभव करे, मेरे तो यह नहीं है, मेरे तो वैभव अभी बहुत कम है तो होते हुए वैभवका, होते हुए समागमका भी उसने सदुप-योग और आनन्द न लूट पाया। कितनी निम्नदशावोंसे निकलकर आज हम आप मनुष्य हुए हैं? हमारा कर्तव्य तो यह है कि अब हम ऐसा पुरु-षार्थ करें जिससे निम्न अवस्थावोंमें फिर पैदा न हों। यदि पैदा होनेकी करतूत की, पैदा हुए तो आजका यह समागम भव क्या उन्नतिमें माना जायगा? बड़े होकर गिर गये तो वह बड़ा होना भी उन्नतिमें शामिल नहीं है। यह ग्रन्थ मुनिजनोंके सम्बोधनके लिए है, तो भी अपने लिये इससे यह शिक्षा लें कि परिग्रहमें महत्व करना कितनी यत्न वाली बात है।

उलाहनाके रूपमें धर्मस्नेह— इन साधु परमेष्ठियोंको परिग्रहके सम्बध में यों समझाया गया है। इस छंदमें चन्द्रमासे कहते हुए मानो साधुवोंको ही सब कुछ कहा गया है। हे चन्द्रमा ! तू लाछन वाला क्यों हुआ ? तू साराका सारा काला क्यों नहीं हो गया ? काला होता तो निन्दा तो न होती। थोड़ा कालिमाका चिन्ह होनेसे लोग निन्दा करते हैं। कवीश्वर तो साहित्यिक ढगसे इस चद्रको बहुत-बहुत रूबर ले डालते है। ऐसे ही हे परमेष्ठी तुम यदि थोड़ा बहुत कुछ दोष वाले बनते हो तो तुम लाछन वाले क्यों हुए ? तुम पूरेके पूरे एकदम काले क्यों न हो गये ? यदि पूरेके पूरे काले हो जाते तो धर्मकी निन्दा तो न होती इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि जीवको गुणोंसे पूज्यता है अन्य वैभव, यश, वल, रूप, कुल आदिसे पूज्यता नहीं है। और प्रजाजन जिनको महान् समझते हैं वैभवशालीको, राज्य वालेको ये राजा और सेठ लोग भी जिस निर्ग्रन्थ साधुके चरणोंमें जमा करते हैं तो इससे अदाज लगा लो कि राज्य पूज्य है या तपस्या पूज्य है।

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतदा प्रच्छाद्य गच्छत्ययम्।
साधं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम् ॥
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्चस्फुटम्।
ब्रूते यः सतत समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरु ॥१४१॥

लोभी गुरुकी विराधकता—कोई आचार्य अथवा गुरु अपना संघ बढ़ानेकी गरजसे मैं बहुत शिष्यों वाला वाला हूं, ऐसा दिखानेके लोभसे शिष्योंके दोषोंको नहीं कहता है, क्योंकि कड़ाई करे, उनके दोषोंको बताये तो इतने शिष्योंका समूह मेरे पास कैसे रह सकेगा, यों इस लोभवश अथवा किसी प्रकारके आशयसे जो किन्हीं दोषोंको ढाका करे वह गुरु स्वय मौजी और शिष्योंको मौजी बनाना चाहता है। कवि कहता है कि वह गुरु नहीं है, उससे भला तो वह दुष्ट है, चाहे वह अव्रती क्यों न हो और चाहे ईर्ष्यावश ही क्यों न दोष बखानता हो, जो शिष्यके दोषोंको कह देता है वह खल पुरुष भी उस गुरुसे भला है। वह दुष्ट कहीं गुरु न बन जायगा, पर कथनका प्रयोजन देखना चाहिए। यहा यह प्रयोजन बताया है कि जो दोषोंको ढाककर या न कहकर शिष्योंको मौजसे रहनेके लिए एक वातावरण बनाता है ताकि शिष्यमडली उसके निकट अधिक हो जाय तो उन शिष्योंका वह गुरु, गुरु नहीं है, शत्रु है।

सन् शिष्यका चिन्तन—कोई गुरु अपनी प्रवृत्ति रखनेके लिए जो शिष्य में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी छिपा करके उसपर भी उन्हें प्रायश्चित्त न देकर प्रवृत्ति करते हैं वे शिष्यके गुरु नहीं हैं किन्तु शत्रु हैं। कदाचित् गुरु

सोचे कि अभी नया शिष्य है, अभी चलने दो, १०-५ वर्ष बादमें समझायेंगे और इसे निर्दोष पथपर चलनेके लिए कहेंगे, और कदाचित् शिष्यकी अभी मृत्यु हो जाय तो उस शिष्यका तो कुमरण होगा, दुर्गति होगी। ऐसा कोई मेरा गुरु नहीं है, शिष्य यों चिन्तन कर रहा है। जो दोष देखनेमें प्रवीण है, जो निरन्तर उसके थोड़े भी दोषोंको बहुत बड़ा बना-बनाकर प्रकट करता है ऐसा दुर्जन हो कोई तो भी वह भला है उस गुरुकी अपेक्षा।

शिष्यकी हितैषितामें गुरुता--कोई कुतर्क करे कि बहुत सी जगह यह बताया गया है कि मनुष्यको गुणग्राही होना चाहिए। इसीलिए आचार्यदेव उस शिष्यके दोषों को नहीं ग्रहण कर रहे-ऐसा कोई एक प्रशसा रूपमें इस समस्याको डाल दे उसका समाधान इस छदमें है, यह व्यापक और साधारण नीति है कि मनुष्यको दोषग्राही न होना चाहिए और सबके अपने कल्याणके लिए यह बात युक्तियुक्त है, किन्तु यहां तो गुरु शिष्यका प्रसग है। यह बात सबकी नहीं है, साधारणजनोंकी नहीं है। शिष्यने गुरुको अपना सर्वस्व समर्पण किया है। यदि है कोई वास्तविक शिष्य तो उसकी बात है और ऐसा सर्वस्व समर्पण करने वाले शिष्यके गुरु भी अपने आपमें सावधान रहकर भी उस शिष्यके पूर्ण हितैषी और हितोद्यमी होते हैं।

गुरुकी हितैषिताकी एक कथा--कहीं एक कथा है-गुरु शिष्य बनमें थे, शिष्य सो रहा था, गुरु जाग रहा था। एक सर्प आया, वह सर्प बड़ी क्रुद्ध स्थितिमें था। गुरुने यह जान लिया कि यह सर्प इसका पूर्व भवका वैरी है, और कदाचित् जगाकर भी अभी इसे बचा दिया जाय तो यह सर्प कुछ ही समय बाद बदला लेगा। बदला लिए बिना मानने का नहीं है, ऐसा जानकर गुरुने शिष्यके दो दो हाथ चारों ओर एक लकीर खींच दिया याने सर्पको कील दिया ताकि वह सर्प उस सीमाके भीतर न आ सके। और गुरुने उस सोये हुए शिष्यकी छाती पर बैठकर किसी कांटेसे वक्षस्थलकोज रा सा काटकर चार छः बूँद खूनके निकालकर उस सर्पको दे दिया। सर्प उस खूनको चाटकर चला गया। शिष्य उस प्रसगमें जग ही गया और वह सब कुछ देख रहा था, किन्तु शिष्यके चित्तमें कोई भी विकल्प नहीं हुआ। ये मेरे गुरु हैं। ये जो कुछ करते हैं मेरे भले के लिए करते हैं, चाहे छाती पर चढें, चाहे गले पर। उसे पूरा विश्वास है कि ये गुरु जो कुछ भी करेंगे वह सब मेरे हितके लिए करेंगे। उसे कुछ पता न था कि क्या मामला है? कुछ समय बाद घटना शिष्यको विदित हो ही गयी तो शिष्यकी गुरुके प्रति भक्ति अत्यन्त अधिक बढ़ी। यह शिष्य और गुरुका परस्परका मामला है। गुरु शिष्यके रंच भी दोषोंको न रहने दे यह कर्तव्य है। इसमे

दोषग्राहिताकी बात नहीं है। गुणग्राहिताकी ही बात है। शिष्यमें यों गुण प्रकट हो जायें यह तीव्र भावना है जिसके कारण रंच भी दोषों को प्रकट करके शिष्यको जताकर उस दोषको दूर करना चाहता है।

शुद्ध एक लक्ष्यमें विसंवादका अभाव—पहिले समयमें हजार-हजार शिष्योंका संघ चलता था। कोई सोच सकता होगा कि हजारों ऋषी संत जहां जा रहे हों तो झगड़े और अव्यवस्थाएँ बहुत हुआ करती होंगी, पर आप सोचिये कि जहां उन हजारों ही शिष्योंका भाव केवल एक आत्मकल्याणका है, सम्वेग वैराग्यसे सभीके सभी भरपूर हैं, वहां विवादका कहां अवसर है? वे सब शिष्य तो अपने भलेके लिए सदा गुरुकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। गुरु मुझे कोई आज्ञा दें। फिर वहां अव्यवस्था का कहां प्रसंग है? एक साधारण-सा भी आदमी जब नाईसे बाल बनवाता है और नाई छुरा फेरता फेरता जब गलेके भी बाल बनाता है, गले पर छुरा चल रहा है पर किसी पुरुषको नाई पर कभी अविश्वास हुआ क्या? नहीं हुआ। हालांकि नाईके हाथमें उस समय पूरी जान है, जरा भी मार दे थोड़ी जगह तो प्राण नष्ट हो सकते हैं, मगर आप लोगोंने या किसीने कभी गले पर छुरा रखने वाले नाई पर अविश्वास नहीं। नाईके प्रति भी श्रद्धा बराबर ठीक रही। यह तो मेरा साज श्रृंगार कर रहा है। जितनी श्रद्धा उस नाई पर जाती है कमसे कम इतनी श्रद्धा गुरुपर होनी तो चाहिए। ये सब सद्गुरु और सद्शिष्यकी बातें हैं। गुरु शिष्यका इतना हितैषी होता है कि शिष्य ऐसे हितैषी गुरु पाकर निश्चिंत रहता है। जो कर्तव्य गुरुने बताया है उसे करते जायें, मुझे क्या चिंता है? गुरुकी मुझ पर छत्रछाया है।

गुरु शिष्यत्वके हितसम्बन्धकी आज भी संभवता—भैया! साधारण रीतिरिवाजमें भी देख लो, कोई मास्टर ईमान्दारीसे हितचिंतक बनकर शिष्यको पढ़ाता है अथवा यों कह लीजिए कि कोई शिष्य निष्कपट गुरुके प्रति भक्तिभाव करता है, जिस शिष्यके चित्तमें यह बात बसी हुई है मेरे मास्टर साहब मेरी जिन्दगीके रक्षक हैं। उसके प्रति गुरुका भी हितपूर्ण आकर्षण होता है। आजकल तो यह सुननेमें अटपटा लग रहा होगा क्योंकि न इस तरहके मास्टर हैं आजकल और न शिष्य। उसका कारण क्या है आप इसे जान जाइये। वर्तमान रवैया कुछ अन्य होनेसे अटपटा लगता होगा, लेकिन फिर भी आजके अटपटे समयमें भी हो तो कोई शिष्य लड़का ऐसा जो गुरुको अपने माता पिता तुल्य समझता हो। मेरे ये पूर्ण रक्षक हैं। माता पिताने तो मानो उत्पन्न किया, पर यह गुरु मेरा जीवन बनाने वाले हैं और केवल इस लोकका ही जीवन नहीं किन्तु यह भविष्य

का जीवन बनानेके भी कारण हैं, ऐसा समझकर यदि निश्छल भक्ति है शिष्यकी तो गुरुको उस भक्तके परवश होकर उस शिष्यकी हितचिन्तकता ग्रहण करनी पडेगी। विवश हो जायगा वह। निमित्तनैमित्तिक योगकी बात कह रहे हैं।

सत् शिष्यके प्रति गुरुकृत उपकार— भगवान वीतराग अरहंत सर्वज्ञ देव उनके मनमे यह कुछ नहीं है कि मुझे यहाँ जाना चाहिए, यहाँ न जाना चाहिए। लेकिन जहां कि भक्त जीवोंका भाग्योदय होता है वहा उनकी पहुच बन जाती है। जहा वीतरागता है वहा भी जब यह सम्बध है तो यहां अध्यापक जनोंमें तो राग है, वे अपनी बुद्धिमें उस शिष्यके प्रति कुछ सोच सकते हैं। क्यों न होगा उनमें हित चिन्तकताका भाव ? इस छदमें यह बताया जा रहा है कि गुरु स्वयं निर्दोष रहे और अपने शिष्यजनोंको भी निर्दोष रखनेका यत्न करे। जो स्वय दोषको धारण करता है और अपना महत्व रखना चाहता है उसको ही दूसरा जो कोई दोष प्रकट करता हो, मालूम पडेगा, किन्तु जो स्वय धर्मात्मा पुरुष है और जो लोकमें अपनी वर्तमान अवस्थावोंके कारण ऊँचा पद भी नहीं चाहता है लोगोंसे कि लोक में मेरा महत्व जमे, ऐसे धर्मीमें कोई दोष हो तो वह तो उसे छोड़ना चाहेगा। फिर वह दोष प्रकट करनहारेको बुरा कैसे मानेगा ?

निर्वाञ्छकतामें धर्माधिकारिता—यहा धर्मका अधिकारी वह है जो अपनेको लौकिक दृष्टिमें अभीसे मरा हुआ मान ले, लोगोंसे न यश चाहे, न महत्व चाहे, न पूजा चाहे, बल्कि ऐसा भाव हो कि मैं इनके लिए कुछ नहीं हू, ये मेरे लिए कुछ नहीं हैं। केवल एक आत्महितकी धुन बनाए हुए हो। ऐसा पुरुष दोष प्रकट करनहारेका बुरा भी नहीं मानता। और। फिर यहां तो गुरु शिष्यकी बात है। गुरु शिष्यके दोषोंको लोकमें प्रकट नहीं करता, किन्तु शिष्यको बताता है कि तुममें यह दोष है। जो आत्महितार्थी है वह इस बातका बुरा नहीं मान सकता है। इस प्रसगमें धर्मात्मा पुरुष यों विचार करता है कि गुण और दोषोंका ज्ञान तो गुरुके बतानेसे होता है। फिर जो गुरु अपनी ऐसी प्रवृत्ति रखता है, जैसे सम्प्रदाय बढे वैसी प्रवृत्ति करना चाहता है और उसके दोषोंको वह नहीं कहता है तो शिष्यको अपने दोषोंका निर्णय नहीं हो सकता। जब दोषोंका उसे निर्णय न होगा तो वह दोष करना बद करेगा कैसे? दोष तो उसके बने ही रहेंगे।

हितकी उपेक्षासे हितका विघात—यदि कोई गुरु ऐसा विचार रखता हो कि अभी चलने दो-शिष्य नया है, कुछ रम जाने दो, अभीसे छेड़ा जायगा तो ठीक नहीं है, पीछे इसके दोष बता दिये जायेंगे। यदि वह शिष्य शीघ्र ही मरण कर जाय उन दोषोंके रहते हुए तो गुरु क्या करेगा ?

शिष्य तो मरण करके कुगतिमें जायगा। इस कारण जो गुरु शिष्यके दोष छिपावे वह गुरु नहीं है। साथ ही यह भी जानें कि जो शिष्यके दोषोंको लोकमें प्रकट करे वह गुरु नहीं है। उस गुरुसे तो वे दुर्जन भले हैं जो अव्रती हैं। यहा कोई यह शका कर सकता है कि किसीसे दोषोंको कह दिया तुरन्त तो उसके हृदयको बुरा लगेगा ना, मर्म छेद न हो जायगा। फिर हित कहा रहा ? समाधान यह है कि कोई ईर्ष्यावश ऐसा करे तो पाप होगा। ये गुरुजन तो दयावंत होकर दोष छुड़ानेके लिए उसके दोषोंको कहते हैं इसलिए वहा तो गुरुके पुण्यका ही बध है, पापका बंध नहीं है। यों इस प्रसंगमें साधुजनोंको निर्दोष रहनेके लिए शिक्षा दी है।

विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमशव.।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तय.॥१४२॥

कठोर गुरूक्तियोंकी हितसाधकता—जैसे सूर्यकी किरणें यद्यपि बहुत कठोर हैं, तीक्ष्ण हैं, आताप उत्पन्न करने वाली हैं तो भी कमलोंको प्रफुल्लित कर देती हैं। इसी तरहसे गुरुजनोंके वचन, शिष्योंको समझानेके प्रसगमें किए गए उपदेश यद्यपि वे कठिन हैं, कहो न रुचें, कभी गुरुजन शिष्यको डांट डपटके साथ भी समझाते हैं। शिष्यके दोषोंको वे यों उगलवा लेते हैं जैसे सिंहके सामने स्याल डरके मारे मास उगल देता है। इसी प्रकार आचार्यजनोंके समक्ष, आचार्य हितैषी है और निर्दोष है, उसके समक्ष शिष्यजन अपने अवगुण उगल दिया करते हैं, यद्यपि आचार्यदेव के वचन, आचार्यदेवकी युक्तियां बहुत कठोर हैं तो भी भव्य जीवोंके मन को, भव्य जीवोंकी निर्मलताको वे विकसित कर देते हैं।

दोषवाद और निर्दोषीकरणमे अन्तर—इस प्रसगमें यह चर्चा चल रही थी कि दूसरेके दोषोंको कह दे तो अवगुण बताया है, जैसे कि पूजामें भी बोलते हैं—दोषवादे च मौनं, दूसरोंके दोष कहनेमें मौन रखना चाहिए अर्थात् दूसरोंके दोष न कहना चाहिए। तो यहाँ आचार्य महाराज पर क्यों दबाव दिया गया कि वे शिष्य के दोषोंको कहें ? उत्तर दे दिया गया था कि यह तो सामान्य नीति है। सर्वजनों को अपनाने की है। किसीके दोषको बोलें नहीं, किन्तु जहां गुरु शिष्यत्वका नाता है वहा गुरु यदि शिष्यका दोष न बताये तो उस गुरुको गुरु नहीं कहा है। जानकर भी यह अमुक दोषमें लगा है और फिर भी उपेक्षा करता जाय उसे उस दोषमें सावधान न करे तो गुरुत्व नहीं कहा है। इस ही के समर्थनमें इस छदमें यह बता रहे हैं कि सूर्यकी किरणोंकी भांति आचार्यदेवके ये वचन कमलों की भाँति भव्य जीवोंके मनको प्रफुल्लित कर देते हैं।

सुयोग्य शिष्यपर गुरूक्तियोंका प्रभाव—श्री गुरु शिष्यके दोष दूर करने

के लिए और शिष्यको गुण ग्रहण करानेके लिए कभी असुहावने कठोर वचन भी कह देते हैं वहां भव्य जीवोंका मन उन वचनोंसे आनन्दित होता है। शिष्यको चिन्ता अथवा खेद नहीं होता है। दृष्टान्तमें जिस तरह बताया है कि सूर्यकी किरणें दूसरे पुरुषोंको आताप उत्पन्न करती हैं। आजकलके सूर्यकी किरणों को ही देख लो बरसात नहीं हो रही है, कड़ी गरमी हो रही है, इतने जोरका आताप उत्पन्न करती हैं ये सूर्यकी किरणें, किन्तु कमलोंको रंच भी आताप नहीं देतीं उन्हें हरा भरा प्रफुल्लित कर देती हैं। ऐसे ही गुरुके वचन पापी पुरुषोंको आताप उत्पन्न करते हैं, क्यों कि कठोर हैं ना! यथार्थ साफ तो गुरुओंके वचन पापी पुरुषोंको आताप उत्पन्न करने वाले हैं, कठोर हैं लेकिन अहितैषी स्वाभाविक निकट भव्य पुरुषों को वे वचन आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं। रंच भी खेद उत्पन्न नहीं करते हैं। श्री गुरु दबाकर भी जोर देकर भी, डाटकर भी धर्मात्मा शिष्यको उपदेश देता है, आज्ञा करता है वहां शिष्य अपना सौभाग्य समझता है। मुझपर गुरुकी बहुत कृपा है।

गुरुकी हिताशयता—प्रश्न—गुरुके कठोर उपदेशसे पापीजन तो दुःख पाते हैं, ऐसे वचन ही गुरु क्यों बोले जो किसी को अप्रिय लगें? ठीक है मगर गुरुजन किसीसे कठोर वचन नहीं बोलते हैं, वे वचन तो पापीजनों को कठोर लगते हैं। धार्मिकजन जानते हैं कि गुरुदेव हमे कठोर उपदेश नहीं देते हैं। उनकी मध्यस्थ भावना रहती है। जो विपरीत वृत्तिके पुरुष हैं उनमें आचार्यदेव न राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, न हुक्म देते हैं और न उस प्रसगमें कुछ व्यवहार करते हैं, माध्यस्थ्य भाव रखते हैं। यहां तो एक विशिष्ट मोक्षमार्गका प्रसंग है। गुरुजन भला होनेके अर्थ कठोर वचन कह देते हैं।

गुरुकी हितैषितापर एक दृष्टान्त—कभी मां बच्चे को खतरनाक ऊधम करते देख लेती है, छतकी मेड़ पर चढ़ रहा है, खेलना चाहता है जहासे गिर जाय तो प्राण न बचें, ऐसे ऊधमी बालकपर माँ कितना रोष दिखाती है। मर न गया, मर जा, कितनी ही बातें कह देती है, पर वह बालक क्या बुरा मानता है? माँके पास ही दौड़कर पहुंचता है। ये मर जा आदि गालीके शब्द औरोंको तो तीव्र आताप उत्पन्न करेंगे, कह तो दे कोई किसी गैरको इस तरहके वचन और वे ही वचन बच्चे को बुरे नहीं लग रहे हैं। वह तो थोड़ी ही देरमें मां की शरण पहुंच जाता है। ऐसे ही आचार्यदेव शिष्यकी भलाईके वास्ते कठोर भी वचन कह दें लेकिन जो योग्य शिष्य है, विवेकी है, चतुर है वह उन कठोर वचनोंसे विषाद नहीं करता। गुरु महाराजको कुछ और ईर्ष्या वगैरह तो है नहीं, बल्कि

वे अपना समय खर्च करके, अपने उपयोगमें कुछ कमी करके शिष्यको कुछ बोला करते हैं, नहीं तो क्या पड़ी है, चुपचाप रहें, इसमें तो शिष्य अपना सौभाग्य मानता है।

साधुके दोषसे स्वपरहानि—मूलमें यह प्रकरण था कि साधु परमेष्ठी को लाछन वाला न होना चाहिए, जिसकी चर्चा चन्द्रमाके दृष्टान्तसे जोड़ी गयी थी, चन्द्रमा उज्ज्वल है, जो कुछ थोड़े स्थानमें उसमें लाछन लगा है, काला चिन्ह है इससे समझदार लोग, कविजन उसकी निन्दा कर देते हैं। यदि समस्त चन्द्रमा काला होता तो जान लेते, है काला, परन्तु निन्दाकी बात तो न आती। ऐसे ही साधु परमेष्ठी उज्ज्वल हैं, इनका बढ़िया वातावरण है, अन्तरङ्ग उज्ज्वल हैं, बहुत-सी निर्मलताएँ हैं, अब इन साधुओंके कोई दोष हो जाय, स्वच्छन्दता आ जाय तो उस लाछनसे उनका भी बिगाड़ है और धर्मप्रभावना का भी बिगाड़ है। मिले तो कोई गुरु कठोर वचन बोलने वाला।

गुरुका कठोर शासन शिष्यकी प्रसन्नताका कारण—जैसे बड़े-बड़े बादशाह भी अपनी माके द्वारा आधा नाम सुनकर बिगड़ा नाम सुनकर अपने में प्रसन्नता पाते हैं, कदाचित् मा गुजर जाय तो बादशाह भी हो उसे भी खेद होता है और वह खेद पवित्र आशयको लिए हुए है। स्त्रीके मरेका भी खेद होता है किन्तु वह खेद उस पवित्र आशयको लिए हुए नहीं है। बड़े-बड़े राजा समझाते हैं, ऐ बादशाह! तू तो हम सबका बादशाह है। मा गुजर गयी तो क्या हो गया! हम हजारों राजा आपके चरणोंमें सदैव नतमस्तक रहा करते हैं। जो आप आज्ञा करें उसको बजाते हैं, क्यों आप अप्रसन्न हैं? आपकी प्रशंसा करने वाले हजारों पुरुष हैं। कौन-सी कमी आ गयी? बादशाहका उत्तर होता है और तो सब कुछ ठीक है पर मेरा आधा नाम लेकर पुकारने वाला कोई नहीं रहा। शिष्यजन भी गुरु के कठोर शब्दोंको सुनकर प्रसन्न रहा करते हैं। कदाचित् गुरु महाराज बहुत अच्छे आदरसे बुलायें, आदरसे बैठायें तो ये समझते हैं कि गुरु हम पर नाराज हैं। हमें उस तरह नहीं बुलाते जिस तरह साधारणतया आधा-फादा नाम लेकर बुलाना चाहिए था। आज और साधारण जनोंकी भांति मुझे आप आप कह कर जी जी लगाकर पण्डित-पण्डित बोलकर या अन्य प्रकार बड़े सम्मानके शब्दोंसे गुरु बुला रहे हैं। मेरा कोई अपराध जरूर है, उस अपराध पर गुरु हमसे नाराज हैं। शिष्य तो यों सोचता है। यह शिष्य यों गुरुके उस कठोर आज्ञामें प्रसन्न रहा करता है।

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः परे।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥१४३॥

हितके वक्तावों व श्रोतावोंकी दुर्लभता—आजकल तो कहने वाले भी नहीं रहे, अब करनेकी बात तो दूर रहो। पहिले समयमें अथवा यों कहो चतुर्थकालमें जब धर्मतीर्थ बडे विस्तारके साथ चल रहा था। मोक्षका मार्ग जहां प्रकट था, ऐसे चतुर्थकालमें भी सत पथ पर चलने वाले विरले थे। पर कहने वाले सुनने वाले तो पाये जाते थे। आजके कालमें करने वाले विरले और कहने वाले भी विरल मिलते हैं, अथवा ज्ञानकी चर्चा करने वाले भी विरले मिलते हैं।

हितकारी पुरुषोंकी विरलता एक दृष्टि—भैया! भले ही कुछ लोग अपन बैठे हुए हैं और यहीं-यहीं निगाह है सो ऐसा लगता है कि कहाँ हैं विरले। ये मास्टर साहब हैं, खूब समझाते हैं, और ये महाराज भी खूब समझाते हैं, अमुक महाराज भी खूब समझाते हैं। और हम आपमें भी ये बोलने वाले हैं। यह भी चर्चा करते हैं। बहुत आदमी हैं ज्ञानकी चर्चा करने वाले। कहाँ हैं विरले? पर समस्त लोकपर दृष्टि डालकर बतावो आजकी मानी हुई दुनियामें अरबों लोग तो होंगे ही। उन अरबों पुरुषोंमें से कितने जन होंगे जो भावभीनी बुद्धिसे इस आत्मा केस्वरूपकी चर्चा करते हों? विरले हैं। जैसे आजके युगमें शाकाहारी विरले हैं, जैन समाज अपनी जगह बैठी है, रह रही है और उसे ये सब गैर दिख रहे हैं तो शका होती है कि कहा हैं विरले शाकाहारी? हमें तो ९९ प्रतिशत लोग शाकाहारी नजर आ रहे हैं। पर नहीं, जरा सारी दुनियापर दृष्टि लगाकर तो देखो तो लोग बतावेंगे कि शाकाहारी पुरुष शायद १ प्रतिशत भी न होंगे। अपनी गोष्ठीमें बैठे हैं इसलिए ऐसा लग रहा है कि वाह देखो बहुत हैं शाकाहारी। यों ही सब जीव लोक पर दृष्टि देकर निरखो व समझो कि इस आत्माका कथन करने वाले, चर्चा करने वाले, चर्चा करने वालेकी बातें सुनने वाले भी दुर्लभ हैं। आजके समयमें कहने वाले भी दुर्लभ हैं, और सुनने वाले भी दुर्लभ हैं, पर अतीत काल में कहने वाले और सुनने वाले तो थे पर करने वाले जरूर विरले थे। जो धर्म इस लोकमें और परलोकमें जीवोंका कल्याण करता है ऐसे धर्मके कहने वाले और सुनने वाले चतुर्थ कालमें बहुत अधिक थे। अंगीकार करने वाले भी थे। थे थोडे इससे जान जावो कि धर्मात्मा पुरुष थोडे ही हुआ करते हैं।

कलियुग—भैया! अब तो यह पचमकाल है, इसे कलियुग बोलते हैं। कलिकाल। कलि मायने काला, काल अन्याय उसका यह काल है। ऐसी कहावत है कि कलिकाल लगने से एक दिन पहिले एक आदमीने मकान बेचा। खरीदने वाले ने उस मकानके नीचे खोदा तो भीतरसे अशर्फियोंका एक हन्डा निकला, वह बेचने वाले के पास ले गया: बोला

भाई यह हन्डा तुम्हारा है अशर्फियोंका। बेचने वाला कहता है कि मेरा नहीं है यह तो तुम्हारा है। खरीदने वाला बोला कि यह अशर्फिया तुम्हें लेनी पड़ेगी तो वह बोला कि हम नहीं लेंगे, ये तो तुम्हारी हैं। राजाके पास झगड़ा पहुच गया। राजाने दोनोंको समझाया कि भाई आपसमें सुलह करलो, कोई बात पर तो पहुंच जावो, क्यों लड़ते हो? बेचने वाला कहता है, नहीं साहब, यदि ये अशर्फी मेरी होती तो बेचने से पहिले मुझे क्यों न मिल गयी होती? खरीदने वाला बोला कि मैंने भीतरका धन तो नहीं खरीदा है, जमीन ही तो खरीदी है। राजाने कहा अच्छा परसों इसका न्याय करेंगे। अब कलिकालकी यह रात आयी, जिसके बाद कलिकाल लगना था। खरीदने वाला सोचता है मुझे इतना माल मिला और मैं खुद देने जा रहा था। बेचने वाला सोचता है कि मैं बड़ा मूर्ख निकला, अशर्फी मुझे खुद देने आया तो मैंने क्यों न ले लीं, ले लेना चाहिए थीं। राजा सोचता है कि मैं बड़ा मूर्ख निकला। जब दोनों झगड़ते थे तो उसका न्याय यह था कि न बेचने वाले को मिलना, न खरीदने वाले को, वह सारा धन राज्यका हो जाता है। खरीदने वाला सोचता है कि धन तो मैंने पाया है क्यों किसीको दू। जब पेशी आयी, न्यायका दिन आया तो राजा बोला कि यह धन न खरीदने वाले को मिलेगा, न बेचने वाले को, यह तो साराका सारा राज्यका हो जायेगा। तो अब यह पंचमकाल है, कलिकाल ऐसा निकृष्ट काल है कि सच्चे धर्मके कहने वाले और सुनने वाले भी थोड़े हैं।

जिन-शासनके एकाधिपतित्व न होनेका एक कारण—युक्त्यनुशासनमें समंत-भद्राचार्य भगवानकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो। हम आपके गुण ज्यादा कुछ कह नहीं सकते, कुछ बोल भी नहीं सकते, पर हां मैं इतना जरूर कह सकता हू कि जगतमें गुणकी, ज्ञान व सुखकी जो परा-काष्ठा है वह आप हैं। इस पर यह प्रश्न हुआ कि जब हम सर्वोत्कृष्ट हैं, हमारा शासन सर्वोत्कृष्ट है तो इस दुनियामें हमारा शासन सर्वत्र क्यों नहीं फैला है, हमारे मानने वाले क्यों बिल्कुल थोड़े हैं? उत्तरमें कहते हैं कि हे प्रभो! आपकी प्रभुता तो यही है, पर आपकी प्रभुता जो नहीं फैल रही। आपका शासन जो एकछत्र नहीं चल रहा है, उसके कारण तीन हैं—एक तो यह कलिकाल है, दूसरे सुनने वाले श्रोताओंके आशय मलिन हैं, तीसरे बोलने वालोंको नयका परिज्ञान नहीं है; ये तीन ऐसे दोष हैं जिसके कारण हे प्रभो! आपका यह शासन लोकमें नहीं फैल सका है। कलिकालकी बात तो बतायी ही है। सुनने वालों का कैसा कलुष आशय है, इसे सुनिये।

जिन-शासनके अप्रसारका द्वितीय कारण—प्राय: श्रोता ये चाहते हैं कि मेरे मनके अनुकूल उपदेश हो। हम जो अपराध करते हैं या जिसमें हम मस्त रहा करते हैं उसमें दखल देने वाली बात पंडित जी न बोलें। अथवा पडित जी साधारण रूपसे ही कह रहे हों और ये श्रोता ऐसा अपराध लिए हुए सुनते हैं तो सोचते हैं कि देखो पंडितजीने आज हम ही पर सारी बातें कह डाली हैं। एक बात क्या-अनेक प्रकारकी कलुषताएँ हैं, कहीं इसलिए सुनते हो कि देखें तो सही इस वक्तामें कितना जौहर है, कोई भी स्खलित वचन मैं पा लूँ फिर इनकी खबर ले लूँ। इस सारी सभामें मैं यदि कोई प्रश्न ऐसा ऐसा छेड़ दूँ कि वक्ताको बताना मुश्किल पड़ जाय तो इसमें मेरी शान बढ़ेगी। इस ही प्रकारकी अन्य अनेक कलुषताएँ हुआ करती हैं। श्रोता जनोंके तो कलुष आशय हैं। यह दूसरा कारण है इसलिए आपका शासन लोकमें नहीं फैल सका है। कल्याण विषयको सुनने वाले श्रोताजन जितने हैं उतनेमें फैल गया, आगे कहां गया?

जिन-शासनके अप्रसारका तृतीय कारण—तीसरा कारण बताया है कि वक्ताको वचनोंका ज्ञान नहीं, नयोंका ज्ञान नहीं। वे केवल बकता रह गये, बकने वाले रह गये। उपदेश देते हुए ऐसी संभाल बनाना कि न तो व्यवहारका उच्छेद हो जाय और न तत्त्वकी बात निकल जाय। दोनोंका ध्यान रखकर बोलने वाले बिरले हैं अथवा उस तत्त्वको नयचक्रसे समझा दें, अमुक दृष्टिसे यह ठीक है, अमुक दृष्टिसे यह ठीक नहीं है। जैन शासन तो यह दम भरकर बताता है कि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनके प्रकरणको लेकर जितने भी धर्म हैं वे जो जो कुछ कहते हैं वे सब बातें यथार्थ हैं और ऐसे भी अनेक धर्म हैं जो परस्परमें अत्यन्त विरोधी हैं। जैसे एक क्षणिकवाद एक अपरिणामीवाद। कितना विरुद्ध उनका मतव्य है, लेकिन जैन शासन उन दोनोंको यथार्थ बता देता है। इसमें विवादका कहीं प्रसंग नहीं है। अब कदाचित् जैन जैनधर्म वाले ही परस्परमें विवाद कर बैठें तो उनके एकान्त हठवादका ही दोष है। जहां सब लोगोंके मंतव्यका समन्वय किया जा सकता है वहां क्या अपने-अपनेके बीचमें एक दूसरेकी बातका समन्वय नहीं किया जा सकता? यह तो विषादकी बात है। तो वक्ताओंको नयोंका परिज्ञान नहीं अथवा स्याद्वादकी रुचि नहीं। जो अपनेमें बात समायी है हठ करके उस ही को सिद्ध करते जाने को मनमें आती है, और जो बात पहिले से छोड़ दी, लोकमें अपनी शान रखने के लिए अन्त तक उसे कहा जाता। जैसे कोई-कोई शंकाकार ऐसे होते हैं कि शंका की, कोई अच्छी तरह समाधान भी दे, लेकिन वह मुखसे यह नहीं कह सकता है कि मुझको समाधान मिल गया। उसमें शानमें बट्टा आता है। अन्त तक

कहेगा कि हमको तो समाधान नहीं मिल सका है। कहा ही तो है उसने। तो ये सब हठोंके आशय हैं। अपने विकल्पोंका हठ छोड़नेके लिए राजी कोई नहीं हो रहा है। ये तीन ऐसे गेय हैं जिससे भगवान का यह निर्मल शासन जगतमें विस्तृत नहीं हो पा रहा है। मिले तो कोई कहने वाले। शिष्य सोच रहा है मिलें तो कोई गुरु, जो कठोर वचनोंसे मुझपर शासन करें। मतलब यह है, कि अपना आचरण निर्दोष चाहे, इसमें ही कल्याण है।

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
भवेत्सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये।
कृतं किमपि धार्ष्ट्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥१४५॥

दूषणकी व्यक्तिमें हितार्थीकी प्रसन्नता—गुण और दोषका जिन्हें विवेक है ऐसे पुरुष अपने दूषण दूसरोंके द्वारा प्रकट होने पर भी उस उपदेशमें प्रीति रखते हैं। जैसे कि कोई भला उपदेश प्रीति उत्पन्न करता है, इसी प्रकार दूषणका प्रकट हो जाना भी धर्मात्माओंकी प्रीतिके लिये होता है। किन्तु जो धर्मतीर्थकी सेवा नहीं करता है ऐसा जीव कदाचित् गुणानुवाद भी करे तो भी विद्वान पुरुषोंके मनको वह गुणानुवाद सतोष उत्पन्न नहीं करता। प्रयोजन यह है कि जिसको जिस बातकी चाह है उसकी जिस प्रकारकी दृष्टि लगी हो वह उसमें राजी है, और उस सिद्धिमें किसीके द्वारा बाधा हो तो वह उसमें प्रसन्न है। जिसे एक आत्मस्वरूपकी धुन ही समायी है, कल्याणकी ही चाह है ऐसे पुरुषको जिस वर्तावमें कल्याणकी सहायता मिलती है इसमें तो प्रीति होती है, और जिस वर्तना से कल्याणमें बाधा होती है उसमे प्रीति न होगी। गुणानुवाद सुनकर यह विरक्त पुरुष उसको बाधक समझता है और दोषानुवाद सुनकर वह उसे साधक समझता है। दोषों को दूर करना और गुणोंको प्रकट करना, यही मात्र ज्ञानी पुरुषका लक्ष्य होता है। जो पुरुष जिसका हित चाहता है वह उसके प्रति वैसा करता है। इस कारण उस जीवके बुरा होनेका जो कारण हो उसको छोड़नेके लिए सत्पुरुष दोष भी प्रकट करते हैं।

दोषनिवृत्तिमें प्रसन्नता—भैया! अपने अनुभवमें भी यह बात निरख लो कि जितने क्षण अपने गुणोंमें रुचि होती है अथवा दोषोंकी निवृत्ति होती है तो दोषनिवृत्तिके क्षणमें कैसा अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है? विषयकषायोंके परिणाम रहते हों तो वह प्रसन्नता नहीं रहती जो प्रसन्नता निर्विषय और निष्कषाय होनेमें रहती है। वह तो भला ही मानता है यदि मेरा यह दोष प्रकट न किया जाता तो इस दोषको निवृत्त करनेका मुझे अवसर न मिलता। कितने ही दोष तो ऐसे होते हैं जो खुदकी समझ

में भी नहीं आते और इसी बात पर एक अहाना भी चला है कि दूसरेके आँखकी फुली भी दिखती है, किन्तु अपनी आँखोंका टेंट नहीं दिखता है। दूसरे जीव उन दोषोंको बता दें तो विवेकी पुरुष उसमें हर्ष मानते हैं।

निर्दोषताका प्रोग्राम—एक ही प्रोग्राम है इस भव्य पुरुषका कि निर्दोष होना, फिर इतनी सम्पन्नता तो स्वयं आ जाती है। बल्कि उसकी इस पर दृष्टि नहीं आती कि मैं ऐसा गुण पैदा करूँ, किन्तु इस पर दृष्टि है कि मुझमें कोई दोष न रहे, विकार न रहे। निर्विकारता होने पर गुणसम्पन्नता अपने आप बन जाती है। तो जिसको यह रुचि रहती है उसकी यह दृष्टि नहीं रहती है कि लोग मुझे बुरा न कहें, भला कहें, लोक तो लोकमें है, उनकी परिणति उनमें है। शिष्य यदि बुरी प्रवृत्ति रखता है तो कोई जाने तो, न जाने तो, मैं अपने लिए अपना घात कर रहा हू और मेरी प्रवृत्ति मेरा आशय मेरी दृष्टि शुद्ध है तो भ्रमवश अथवा किसी भी कारणसे दूसरे लोग अपयश करें, निन्दा करें, सर्वत्र अपयश भी फैला दें, इतने पर भी मेरा बुरा नहीं होता है। जिसको अपने लिए एक अपना ही शरण दीखा है, आप ही गुरु समझमें आया है, आप ही रक्षक ध्यानमें आया है उस पुरुषकी लोकयश अपयश आदि पर दृष्टि नहीं होती है। उस विवेकी का एक ही प्रोग्राम होता है—मैं निर्दोष होऊँ, निर्विकार होऊँ।

गुण दोषके विवेकी आवश्यकता—भैया! वास्तविक मित्र वही है जो निर्विकार होनेमें सहायता करे। वह मित्र नहीं है जो विषयोंमें, व्यसनोंमें लगाये। भले ही कषायवश ऐसे लोग मित्र मालूम पड़ते हों, पर वे तो वास्तवमें बिगाड़का कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका ऐसा संकल्प होना चाहिए और अपने आपमें ऐसा प्रकाश बनाने वाला रहना चाहिए जो यह दिखता रहे कि मेरा इसमें भला है और मेरा इसमें बुरा है, और लोकमे भी प्रायः ऐसी व्याप्ति है कि मैं भला करूँ तो लोकमे भी भला होगा, अन्यके प्रति भी भला व्यवहार होगा, दूसरे भी मुझे भला समझेंगे। मैं बुरा करूँ तो दूसरे भी मुझे बुरा समझेंगे। लेकिन दूसरोंके द्वारा भला और बुरा समझा जानेसे सुधार बिगाड़ नहीं हैं। वह तो एक व्याप्ति है, होता है ऐसा। पर सुधार बिगाड़ तो अपने भले और बुरे होनेसे है। अब दोष प्रकट होने पर दोषोंको दूर करना और गुण दिखने पर गुणोंका ग्रहण करना, यही एक अपना कर्तव्य है, यह बात अगले छंद में कह रहे हैं।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वर.॥१४५॥

गुणग्रहणमें व दोषत्यागमें विद्वत्ता—छूट गई है अन्य कारणकी अपेक्षा

जिसमें तथा गुण दोषोंका ही कारण जहाँ पर है ऐसे गुणका ग्रहण और दोषका त्याग जिस जीवमें पाया जाता है सो ही ज्ञानियोंमें प्रधान जानना। दोषसे रहित और गुण सहित जो वृत्ति होती है वह शान्तिके लिए होती है। दोष स्वयं अशान्तिका स्वरूप रख रहा है। दोषोंसे अशान्ति होती है इतना भी क्यों कहें। दोषोंमें स्वयं अशान्तिका स्वरूप पड़ा है। राग करनेसे क्लेश होता है, इतना भी क्यों कहें। हम जैसे हैं वैसे ही अपने आपमें रहें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम अपना स्थान छोड़कर अपनी सीमासे बाहर जब जानेके उद्यमी होते हैं, परघरमें अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, परवस्तुवोंमें अपना उपयोग बसाया करते हैं तो इस बाहरी वृत्तिमें क्लेश होना प्राकृतिक बात है। क्लेश और आनन्द इन दोनोंका इतना ही हल है कि यह उपयोग अपने आधारकी ओर मुख न करके जो निराधार है, जो मेरा आधार नहीं ऐसा बाह्य वस्तुवोंकी ओर यह उपयोग मुख करे तो उसमें क्लेश होता है। और अपने आधारभूत तत्त्वकी ओर मुख करे तो उसमें आनन्द रहता है। योगीश्वरोंने यही मर्म अपने चित्तमें उतारा और यही किया करते हैं। वे रात्रि दिवस कि मेरा उपयोग मेरी ओर मुख करता हुआ रहे, मैं अपने को जानूँ मानूँ और ऐसा अपने आपमें रमण करूँ तो वहां क्लेश नहीं रहता है।

जीवकी त्रिगुणमयता—जीवमें ये तीन गुण स्वभावतः हैं। श्रद्धा करना, ज्ञान करना और रमण करना, प्रत्येक जीव चाहे एकेन्द्रिय हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि हो, प्रभु भी हो, सब जीवोंमें ये तीन परिणतियां पायी जाती हैं—विश्वासका रहना, ज्ञानका होना और लगा रहना। अज्ञानी जीव अज्ञानमय भावोंको आत्मारूपसे विश्वास करता है पर विश्वास किए बिना कोई रहता नहीं है। जिसके मन नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय आदिक जीव भी जल पृथ्वी पेड़ ये जीव भी अपने आपमें विश्वास बनाये हैं। मन न होनेसे उसका विकल्प नहीं बन पाता है, लेकिन अपने आपका प्रत्यय किए बिना कोई जीव दुःखी नहीं रह सकता। अपने आपका जो अन्यरूपमें प्रत्यय करे वही दुःखी होता है। किसी ओर विश्वास न हो और दुःख अथवा आनन्द मिल जाय, यह कभी नहीं होता। वह अपनी पर्यायोंके अनुकूल विश्वास बनाये हैं। जिस पर्यायको उन्होंने पाया है उस पर्यायरूप मैं हूं, ऐसा उनमें बोलनेकी और स्पष्ट विकल्प करनेकी योग्यता नहीं है, फिर भी वे अपने ढंगसे अपने आपमें कुछ न कुछ अनुभव किए हुए हैं। तभी उन्हें क्लेश होता है। विश्वासका माद्दा प्रत्येक जीवमें है, यों ही ज्ञानकी प्रकृति प्रत्येक जीवमें है, और कहीं न कहीं रमण करनेकी प्रकृति प्रत्येक जीवमें है। अज्ञानीजन कहीं न कहीं लग ही रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष भी कहीं न कहीं लग ही रहे हैं, और भगवान अरहंत सिद्ध भी कहीं लग रहे हैं। ये कहाँ लग रहे हैं? निजानन्दरस लीनमें। वे इस प्रकार लग रहे हैं। तो ये जीवमें तीन प्राकृतिक गुण हैं।

स्वपरविवेकमें आनन्द—कोई अपने आपमें ही लगे उसे आनन्द है जो परकी ओर लगे उसे क्लेश है, इसका कारण यह है कि जिस परको हम अपनाना चाहते हैं वह परपदार्थ है, भिन्न है, उसपर मेरा अधिकार है नहीं, और मान लिया है अपना तो मेरे मनके अनुकूल वह परपदार्थ रहा ही करे, ऐसा तो हो नहीं सकता। वह अपनी योग्यतासे परिणमेगा, हम अपने मनका विचार और कुछ बनायेंगे और उस समय हम कष्टका अनुभव करेंगे। जो जीव निजको निज परको पर जानते हैं उनको दुःख पाने का अब कोई कारण नहीं रहा। यथार्थ जान लिया, क्लेश समाप्त हो गया। जब हम स्वयंको अपराधमय रूपमें जाननेका हठ बनाया करते हैं तब ही आकुलताएं होती हैं। हम यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा रहें तो वहां आकुलताका काम ही नहीं है, सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही है करनेका अपने आपको अपने यथार्थस्वरूपके रूपमें अनुभव करना, ऐसा ही भान बनाये रहना यह काम कितनी देर करना चाहिए? अरे यह तो रात दिवस प्रतिक्षण सदा काल करना चाहिए। जब यह दृष्टि छूट जाती है तब हम अनर्थमें विपत्तिमें ही तो पड़ जाते हैं। एक बार ऐसा विश्वास होने पर सदैव ऐसा विश्वास बना रहे यह सबका कर्तव्य है। अपना पता पा लेवे, अपना सही मूलमें सहारा पकड़ लेवे तो इसे समझिये कि इसकी आँखें खुली हैं।

दुःखका कारण अविवेक—भैया! जिसको अपना मूलमें सहारा नहीं मिला वह अंधा है। वह यत्र तत्र दुःखी होगा। अज्ञानी जीव अपनी ही योग्यतासे दुःखी होता है, उसे कोई दूसरा दुःखी करने नहीं आता। एक साधारण सी कथा है—एक गाँवमें एक पति पत्नी रहते थे, पतिका नाम था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। एक दिन फजीहत लड़कर घर से निकल गयी। वह बेवकूफ इधर उधर ढूँढता फिरे। दसों लोगोंसे पूछा पर उसे फजीहतका पता न चला। एक बार किसी परदेशीसे भी पूछा कि तुमने क्या मेरी फजीहत देखी? वह उसका कुछ अर्थ ही न समझ सका। उसने पूछा तुम्हारा नाम क्या है? वह बोला मेरा नाम है बेवकूफ तो उसने कहा—अरे तुम बेवकूफ होकर फजीहत को कहां ढूँढते फिरते हो? जहां ही किसीको उल्टी सीधी बात कह दिया वहां ही सैकड़ों लाठी घूँसे तैयार हैं। तो अविवेकीको तो जगह-जगह दुःख है। उसे दुःख कहीं से लाना नहीं है, अज्ञानके साथ ही दुःख लगा हुआ है।

सुखार्थ अन्तः प्रयत्नकी आवश्यकता—सुखके लिए हम लोग बड़े बड़े

प्रयत्न करके रात दिन उद्यम करते, धन कमाते, कारोबार करते, बहुत बहुत क्रियाएँ किया करते हैं, किन्तु शान्ति अब तक नहीं पायी। शान्ति मिलेगी कहाँसे, शान्ति मिलने के ढंगका काम ही नहीं करते। वह काम है अपना प्रकाश पाना। सबसे भिन्न अपने स्वरूपमात्र ज्ञानानन्दपुञ्ज अपने आपका अवलोकन बनाए रहना, यही है शान्तिका उपाय। ऐसा करने की दृष्टि तो होनी ही चाहिए। मोह मोहमें अब तक अनेक बार पडे, ऐसा फंसाव है यह मोहका कि यह कितना ही सोचता है कि हम इतने समय बाद बिलकुल निश्चिन्त हो जायेंगे, हमारा मार्ग बिलकुल स्पष्ट साफ हो जायेगा। अरे ज्ञानभावना बनाये बिना कदाचित घर भी त्याग दे तो त्याग देने पर भी वह निश्चिन्तता प्रकट नहीं हो पाती है, और प्रथम तो घरका त्यागना भी बहुत कठिन हो जाता है। जितना भी क्लेश है वह सब मोहका क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश ही नहीं है। घर, घरमें है, वैभव, वैभवमें है, दूसरे जीव वे अपने स्वरूपमें हैं। कौनसी आपत्ति है हम आप पर ? जो जहा है, है। किसी जीवका कोई ठेका ले सकता है क्या ? और ठेका ले क्यों रहे हो ? किसी जीवका कोई कर्तृत्व सम्बन्ध है क्या ? इसका यही जीव है सब कुछ ऐसा कोई नाता नहीं। ठेका ही क्यों ले रहे हो ? लिया भी नहीं जाता। सबके साथ अपने-अपने कर्म लगे हैं। पुत्र कुपूत है तो उसको धन संचित करके भी रख जाय तो भी वह लाभ नहीं ले सकता, पुत्र सपूत है तो उसे आप कुछ करके भी न जायें तो भी वह अपने पुण्य और युक्तिसे काम चला लेगा। सबके साथ उदय लगा है, किसकी चिन्ता करते हो ?

निजप्रकाश—भैया ! बुद्धिमानी इसीमें है कि हम सबसे विविक्त केवल अपने चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको दृष्टिमें लेते रहें। मैं तो वह हू जिसे कोई कुछ नहीं कहता। दूसरा कोई मुझे पहिचानता भी नहीं। कोई यदि मुझे पहिचान जाय वास्तवमें तो वह स्वयं निर्विकल्प होता हुआ ही तो पहिचानेगा। फिर उसका मेरे साथ व्यवहार ही नहीं चल सकता। वह अपने प्रकाशमें लीन हो जायेगा। जो लोग ऊँच नीचका व्यवहार करते हैं उन्होंने उसे जाना नहीं है। वे मेरे साथ व्यवहार नहीं करते, किन्तु इस मूर्तिकको जो कुछ पर्याय उनकी नजर आती है उसे ही सब कुछ जान कर व्यवहार करते हैं, किन्तु यह तो मैं नहीं हू। अपने आपके यथार्थ-स्वरूपका भान रहे तो निराकुलता मिलेगी। अज्ञान अंधेरेमें हम भटक भटक कर शान्ति चाहें तो यह कभी नहीं हो सकता।

आत्मभावनाका अनुरोध—वीतराग सर्वज्ञदेवने स्वयं शान्तिके इस मार्ग पर चलकर लोगोंको मार्गका उपदेश दिया है। शान्तिका केवल एक

ही यह पंथ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अपनी अपनी शक्तिप्रमाण हम आप सबको इस रत्नत्रयकी आराधनामें लगना चाहिए और वह सीधा थोड़ेसे शब्दोंमें सुगम समझमें इतना ही है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको मानूँ और ऐसा मानता रहूँ बस इस ही में रत्नत्रयका प्रकाश है, ऐसी श्रद्धा बनाकर हम आकुलतावों से दूर हों, ऐसी अपनी भावना और कोशिश करें।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशं।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ॥१४६॥

हिताहितके अविवेक व विवेकका प्रभाव—हे आत्मन्! तू हितको छोड़ता है और अहितमें ठहरता है, इसी कारण दुर्बुद्धि होकर तू नितान्त दुःखी ही होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप परिणाम करना, अपने सहज शुद्ध स्वरूपमात्र, चैतन्य स्वभावमात्र अपने आपकी प्रतीति करना और शुद्ध ज्ञानरूपमें ही अपनेको निरखना और ऐसे ही ज्ञानस्वरूपमें रमण करना यह तो है आत्माका हित और आत्मतत्त्वको त्यागकर अन्य जड़ वैभव परिजन आदिकमें दृष्टि लगाना, उन्हें अपनाना, उनमें ममता करना यह सब है अहित। अब जगतके प्राणियोंको देख लो, परख लो कि वे हितमें ठहरे हैं अथवा अहितमें ठहरे हैं। प्रायः यही दशा है हितको त्याग कर और अहितमें ठहर गये। इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे तो तू दुःखी ही होगा। यदि इससे उल्टा करे, अहितको त्यागे और हित में ठहरे तो सुधी होकर तू अभी भी सुखी हो जायगा।

जगतके अशुद्ध वातावरण पर द्यूतस्थानका दृष्टान्त—भैया! इस मनुष्य के सामने एक समस्या वातावरणकी भी कठिन है, दूसरे अपनी आशक्ति है। वातावरण इसका क्या बिगाड़ करे यदि स्वयकी आशक्ति न हो। जैसे ज्वारियोंके अड्डे पर कोई पहुच जाय तो वह जुवेंमें हारता है तब भी उस अड्डेसे हट नहीं पाता है और जब जीतता है तब भी उस अड्डे से हट नहीं पाता है। जीत करके वह हटना चाहे कि अब हमने जीत लिया, चलो सब घर ले चले तो वे ज्वारी उसे यों कहते हैं कि बस मतलब का ही है, जीत लिया सो चल दिया, इतनी खुदगर्जी है, दसों बातें सुनाते हैं। फिर उसे उस खेलमें बैठना पड़ता है। हार जाय तो वह जीतनेकी आशासे और बैठा रहता है। कदाचित् हार हार कर थक गया अब दो एक दिनके खाने भरका ही बचा है, उसे ही अपनी गाठमें बचाकर चल दे तो भी वह लेकर नहीं जाने पाता है। ज्वारी लोग कहते हैं बस इतनी ही हिम्मत थी। उसे फिर बैठना पड़ता है।

जगतका अशुद्ध वातावरण—ऐसे ही यह संसार पुण्य पापके जुवेका

अड्डा है, इस अड्डेमें हम आप बैठे हुए हैं। पुण्यका फल मिला उसमें जीत मान लिया, पापका फल मिला उसमें हार मान लिया। जुएमें और क्या बात होती है हार और जीत। यहाँ साक्षात् जीत और हार है। जैसे लोग कहते हैं कि सिनेमामें क्या जावें? जो कुछ जिसपर गुजर रही है यह सब साक्षात् सिनेमा ही तो है। जो सिनेमाके भीतरमें दिखाया जाता है वे ही बातें तो यहां होती हैं। यह सीधा सिनेमा ही तो है। ऐसे ही जानो कि यह जगत जुआरियोंका अड्डा है। पुण्यके फलमें जीत मानने वाले और पापके फलमें हार मानने वाले ये यहांसे हट नहीं पाते हैं। न जीत मानने वाला हट पाता है और न हार मानने वाला हट पाता है। उन्हीं विभावोंमें रत रहकर कर्मबन्धन करता हुआ भवके जन्म मरण करता रहता है। यह कुटेव कि हितका त्यागना, अहितमें ठहरना। जब तक ये न छूटेगी तब तक हे प्राणी तू सुखी न हो सकेगा।

आत्मनिरीक्षण—भैया! जगतकी ओर क्या देखते हो, अपनी ओर निरखो। जब जितने भी समय घंटा आध घंटा धर्म करनेका संकल्प कर रहे हो, भक्ति सामायिक ध्यान जाप जब ही धर्ममें लग रहे हो तो इतने क्षणोंमें तो गृहस्थीके अन्य लोगोंसे तो अपना रंच भी नाता न रख। इतने समय तो तू सबसे विविक्त निजस्वरूपमात्र अपने स्वभावको निरख। इससे ही अपना प्रयोजन रक्खेगा तो तुझे निराकुलता मिल सकती है। अब हे आत्मन्! जितने भव, जितने क्लेश गुजरे सो गुजरे, गुजर ही चुके, बीती हुई बातके ख्यालसे क्या पूरा पड़ेगा? कौन सी सिद्धि होगी? वे सब गुजर गये। अब आगे की सुध लो। अब शेष जीवन ममतारहित होकर राग विरोधरहित होकर आत्मकल्याणकी दृष्टिमें पग कर व्यतीत होना चाहिए। हितमें ठहरो और अहितको त्यागो। अहंकार ममकार, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब अहित भावोंको त्यागो, ये परभाव हैं, अहितरूप हैं, दुःखस्वरूप हैं, मेरे तत्त्व नहीं हैं। मैं इनसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दमात्र हूं। ऐसी ज्ञान भावनाका बल बढ़ाकर इन समस्त विभावोंको दूर कर दो और आत्मस्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप जो रत्नत्रय है उस रत्नत्रय परिणाममें तू ठहर, इसही विधिसे सुखी हो सकेगा।

इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमितो,
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।
त्यजस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजनन्,
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः। सौख्ययशसोः ॥१४७॥

गुण दोषके साधनोंका विवेकी—कौन पुरुष सुख और यशका पात्र

होता है और अन्तमें शुद्ध आनन्दको भोगता है ? जो पुरुष पहिले तो यह निरख करता है कि यह गुण है और यह दोष है, ये गुण हितके कारण हैं और ये अमुक-अमुक उपायसे प्रकट होते हैं, यह जो स्पष्ट जानता है और ये दोष अहितके कारण हैं। इन दोषोंकी उत्पत्ति इन इन पद्धतियोंसे होती है, ये त्यागने योग्य हैं—इस प्रकार जो गुण और दोषोंमें विवेक बनाता है और विवेकी बनकर गुणोंको ग्रहण करता है, दोषोंको त्याग देता है वह ही पुरुष सुख, यश और मुक्तिका पात्र होता है। वस्तुत वही विद्वान है।

लोकवैभवसे महत्ताका अभाव—कोई पुरुष लौकिक धन बढ़ गया उस से समझता है कि हमने विवेक किया, बुद्धिमानी की, देखो इतना वैभव मेरे समीप आ गया। सब कल्पनाओंकी बात है यह तो अविवेक है। इसके निकट कुछ नहीं आया। यह तो अपने ज्ञानादिक गुणों स्वरूप है, यह तो जैसा है तैसा ही है, पर कल्पनामें मान लिया कि मेरे पास इतना वैभव है, लौकिक वैभवके कारण लोग अपने को महान् समझते हैं, पर महत्ता तो वहा है जहा शान्ति रह सकती हो। शान्ति न मिले और इस मायामयी अंधेरी आत्मामें अपने आपको जो मौजी मान ले तो इतने से कोई सिद्धि न होगी।

परमार्थ विवेकी—विवेकी पुरुष वह है जो स्पष्ट जानता है कि यह तो गुण है और यह दोष है, यह तो हित रूप है और यह अहितरूप है। यह गुण इस उपायसे प्रकट होता है और यह दोष इस उपायसे प्रकट होता है। स्पष्ट जो जाने और दोषोंके उपायको त्याग दे, गुणोंके उपायको ग्रहण करे, बस वही पुरुष सुखका पात्र होता है। लौकिक कथनीमें ये सब एक साधारण बातें लगती हैं लेकिन इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी बात समायी हुई हैं। यह गुण है, यह दोष है, इस प्रकारका जो निश्चय करता है वही तो सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान कहलाता है और फिर गुणोंको ग्रहण करना ,दोषोंको त्यागना यही सम्यकचारित्र कहलाता है। वैसे सीधी पद्धतिमें एक साधारण सी बात बतायी कि दोषोंको दोष जानो और गुणों को गुण जानो। दोषों को त्यागकर गुणोंको ग्रहण कर लो। ठीक है, इस प्रक्रियामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आ गये। रत्नत्रयको ही मोक्षका मार्ग कहा है। मोक्ष मायने छुटकारा। किससे छुटकारा ? अशान्तिसे, विकारोंसे, उपाधियोंसे, मलिनताओंसे छुटकारा होने का नाम मोक्ष है। मोक्ष कहो या शान्तिका परमधाम कहो, स्थान कहो, एक ही बात है। गुण और दोषोंका विवेक करके जो गुणको ग्रहण करे वह पुरुष सुखका भी पात्र है और यशका भी पात्र है।

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात्।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाश—
स्तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥१४८॥

लौकिक वृद्धिनाशकी शुभाशुभकर्मानुसारिता—लौकिक वैभवकी वृद्धि होना अथवा लौकिक वैभवका नाश होना वह वर्तमान बुद्धिके आधीन नहीं है, किन्तु जन्मान्तरोंमे अर्जित शुभ और शुभकर्मोंके योगसे ऐसा होता है तभी तो कहो जिसने खूब पढ़ा लिखा, विद्याभ्यास किया, उसके निर्धनता बनी हुई हो, और ऐसे भी लोग देखनेमें आते हैं कि जिनका ज्ञान विवेक एक बच्चे बराबर भी नहीं है, अललटप्प सा रहता है, उठने बैठने चलने खाने पीने आदिमें भी असभ्यता है। गरीबीमें होता तो लोग उसका तिरस्कार करते, बुद्धिहीन है लेकिन फिर भी कोई कोई बडे धनिक हैं और इतना धन है कि कहों रखनेका भी स्थान न हो, ऐसा देखा जाता है। तो सच समझो यह वैभव बुद्धिका फल नहीं है। यह तो पूर्वकृत सुकृतका फल है। इससे वृद्धि और हानिका लेखा न करना कि लौकिक वैभव बढ़ गया तो हम बडे हो गये, लौकिक वैभव कम हो गया तो हम हीन हो गये। वृद्धि और हीनताका इस जड़ वैभवके समागमसे लेखा न लगायें। इससे बुद्धिका अंदाज नहीं होता। जो वैभवशाली है वह बुद्धिमान हो और जो वैभवरहित है वह बुद्धिहीन हो, ऐसी व्याप्ति नहीं है, और उससे हानि लाभका लेखा भी न लगायें। धन होनेसे लाभ हुआ। धन कम होनसे हानि हुई, यह लेखा भी न लगाइये।

वृद्धि हानिका वास्तविक लेखा—वृद्धि और हानिका वास्तविक लेखा लगाना हो तो धर्मरूप परिणाम होने पर वृद्धि मानो और धर्मरूप परिणाम न होने पर हानि मानो। बुद्धिके विकासमें लाभ और बुद्धिके आवरणमें हानि या नफा टोटाका लेखा लगाइयेगा। लौकिक वैभवसे नफे टोटेका लेखा न लगाइयेगा। उसमें कोई बुद्धिकी करामात नहीं है। हालांकि थोड़ी बहुत बुद्धि वहाँ लगती है पर वह इतनी साधारण भी हो सकती है जितनी अन्य निर्धन पुरुषोंमें भी सम्भव है। फिर लौकिक हिसाबमें कुछ ऐसा भी लगता है कि धनिक पुरुषोंमें धनी होने पर कुछ बुद्धि आ जाती है उस योग्य, कुछ सभ्यता सी जँचने लगती है। वस्तुत कोई नियम नहीं है, पर लोककी दृष्टिमें धनी पुरुष बडे माने जाते हैं तो उस धनिकके बड़प्पनके कारण वे जो कुछ करते हैं वह भी कुछ बड़ा सा लगता है। जो बड़ा माना जाता है उसकी चेष्टा कुछ बड़ी सी दिखने लगती है। लेकिन वस्तुत. वैभव होने न होनेसे आत्माको लाभ और हानि नहीं है। हमने कितना कषाय मद

किया है, पहिलेकी अपेक्षा मेरे कितना ममत्व दूर हुआ है। मैं किसी पर-वस्तुमें अहंकार तो नहीं रखता, यह अपनेमें देखिये। यदि यहाँ कुछ विकास मालूम होता है— हां मैंने क्रोधपर इतने अंश तो विजय पा लिया। पहिले तो मैं भुना ही करता था, अब अनेक बातोंके झेलनेकी भी सामर्थ्य आ गयी और उस दर्जेका क्रोध न रहा तो यह है लाभकी बात। इसी प्रकार मान, माया, लोभकीभी बात निरख लो। यदि इन कषायोंकी मंदता हुई है और परवस्तुओंके उलझनसे हटकर सीधे सुगमतया अपने आपकी ओर आनेकी योग्यता हुई है तो वहाँ जमाकी कलम बढ़ी हुई समझना चाहिए।

कषायवृद्धिसे आत्महानिका निर्णय—यदि पहिलेकी अपेक्षा अब क्रोध ज्यादा आने लगा है और अवस्थाका भी कषायवृद्धिमें सहयोग मिला जो कि प्राय ऐसा हो जाता है, वृद्धावस्था होती है, शारीरिक कमजोरी है तो वहा फिर जरा-जरा सी बातोंमें क्रोध आने लगता है। ऐसा ही यदि हुआ, पहिलेसे क्रोधकी मात्रा बढ़ गयी, पहिले इतना घमंड नहीं उठता था क्योंकि छोटी उमरका था। कुछ जगतके और ढोंढाल देखे न थे, अथवा आर्थिक स्थिति कम थी या लोगोंसे इतना परिचय न था, सब साधारण बात थी। इसमें घमडका अवसर कम रहता था। लेकिन, आज दसों नगरोंमें मेरा नाम हो गया है, वैभव भी बढ गया है, और कलायें भी बढ़ी चढी हो गयी हैं तो इससे अहंकार और भी बढ़ गया। यदि अभिमान बढ गया तो समझिये कि हम नुकसानमें हैं। बच्चे लोग इतने मायाचारमें नहीं रहते हैं, पर जैसे-जैसे उमर बढ़ती जाती है मायाचार करनेकी योग्यता होती जाती है, क्योंकि विषयोंमें प्रीति बढ़ी उसके लिए साधन चाहियें। विषयों के साधन कमा लेना कुछ हाथकी बात नहीं है। मिलना है तो मिलता है, नहीं मिलता है तो नहीं मिलता है।

विकल्पोंकी अनर्थता—देखो भैया! पराधीन विषयोंके साधन मुझे किसी प्रकार मिल जायें तो मिलनेका अर्थ है कि किसीके छूट जायें, क्योंकि जगतमें विषयोंके साधन तो इतने ही नियमित गिने चुने हैं। यदि हम विषयोंके साधन अधिक चाहते हैं तो इसका अर्थ यह है कि किसीके पाससे ये साधन हट जायें, हमें मिल जायें। यदि ऐसा करनेमें दूसरेका नुकसान पहुचे, मुझे लाभ हो, दूसरेके नुकसानकी परवाह न रखा करें, अपने लौकिक लाभकी दृष्टि रक्खें तो इस कठिन कामके करनेमें मायाचार करना पड़ता है। इस कामके करनेका अवसर बड़ी उमरमें ही आता है, छोटी उमरमें नहीं आता। तो हुआ क्या? हम और कषायोंमें बढ़ गये। मानते तो हम यह हैं कि हम धर्म कर रहे हैं, हमने उन्नतिकी है, किन्तु हो रहा है काम उलटा तो यह हित पंथसे विपरीत बात हुई ना। इस लौकिक समा-

गमसे हम लाभ टोटेका लेखा न लगायें। अपने आपको देखो। धन बढ़ा लिया तो उसने कौनसा बड़ा यत्न कर लिया, कौनसा बड़ा काम कर लिया जिन-जिन पुरुषोंके भोगमें उस धनको आना था वह उनके पुण्यके उदयसे आया, मैं बन गया निमित्त और ये सब चीजें प्राप्त हो गयीं। इससे हमारा कौनसा हित हो गया खूब सोच लो। भारी धन कमानेमें और उसकी रक्षा व अन्य-अन्य चिन्तावोंमें समय गुजरता है और लाभ क्या होता है खुदके आत्माको, इस पर दृष्टिपात करो।

ज्ञानयत्नकी युक्तता—ये वैराग्यकी बातें ऐसी लगती है जैसे लोगोंकी समझमें अनफिट हों, की जा रही हैं। जमाना कैसा है जमानेको देखकर हमें भी तो बढ़ना चाहिए, हमारे भी विषयोंके साधन ऊँचे होने चाहिएँ। हम भी लोगोंके बीच शानसे बैठ सकें, रह सकें इतनी बात तो होनी ही चाहिए। इसकी भी उपेक्षा करके केवल आत्मा आत्माकी बात सुनाई जा रही है। ये तो सब अनफिट बातें हैं। ठीक है। संसार-भ्रमणके प्रोग्राम की दृष्टिसे तो अनफिट है, पर कोई विरले भव्य पुरुष इस प्रकारका आत्महितका लक्ष्य बनाकर अपने आपको रवसे कोमल रखकर अपने आपमें पुरुषार्थ किया करते हैं। इस ज्ञानयत्नमें हितोद्यम फिट हो जाता है। यह भी बात नहीं है कि कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको लौकिक साधन यश और सुख ये न मिलते हों। उसे तो अन्य लोगोंसे भी अधिक मिलते हैं, पर जो इनकी ओर आकर्षित हो जाता है वह दोनों दृष्टियोंसे गया बीता हो जाता है। हमारी हर परिस्थितिमें यह कर्तव्य है कि हम धर्मकी दृष्टि रक्खें।

धर्मस्वरूप भगवान आत्मा—साक्षात् धर्मस्वरूप यह भगवान आत्मा है। जो कुछ हम चाहते हैं, लौकिक मनोरथ हम करते हैं उन सब मनोरथों की पूर्तिका स्थान यह भगवान आत्मा है। इसमें कहां कमी है, कहां अधूरापन है, कहां कौनसी त्रुटि है, सत् है। जो सत् है वह पूर्ण बना हुआ ही होता है। यह मैं परिपूर्ण हू और सत् होनेके कारण सुरक्षित हू। अपने इस सुरक्षित चित्स्वभावमात्र तत्त्वमें दृष्टि जाय तो वहां एक ऐसा अनुपम आनन्द प्रकट होता है कि जिस आनन्दमें चिरकाल तक वह रहेगा, सर्व प्रकारके कर्मबंधन, संकट समाप्त हो जायेंगे। हर परिस्थितिमें मूल लक्ष्य तो यही रखना चाहिए कि मैं अपने स्वरूपकी ओर झुकूँ और इसीमें रम करके अपनेको तृप्त कर लूँ। एक ही मात्र उपाय है शान्तिका। जब भी जो कर सकेगा शान्ति तो इसी उपायको करके ही शान्ति पा सकेगा।

> कलौ दण्डो नीति स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
> नयन्त्यर्थार्थं त न च धनमदोऽस्त्याश्रमवता।

नतानामाचार्या न हि नतरता: साधुचरिता-
स्तपस्थेपु श्रीमन्मणय इव जाता: प्रविरला: ॥१४६॥

राजार्वोंकी दंडमे व न्यायमे अशक्तता - इस कलिकालमें दंड ही नीति है। जैसे उपदेश द्वारा लोकको नोतिमें लगाया जाता था वैसे आजके समय में उपदेश नीति नहीं है किन्तु दंड नीति है। राज्यका कोई नियम बन जाय और उसपर जोर रहे तो नीतिका पालन हो जायगा, पर उपदेश मात्रसे नीतिका पालन होनेका आजका समय नहीं है प्राय: करके। सो नीति तो इस कलिकालमें दंड है और वह दंड राजार्वोंके द्वारा होता है। राजा ही दंड देनेके अधिकारी हैं, और ये राजा धनके लिए हैं। जिस मामलेमे धन मिले उसपर उनका ध्यान है, यह उनका नियम है। कोई गरीब आदमी आजके समयमें अपनो किसी बातका न्याय कराये, जिसके पास पैसा नहीं है उसका कोई स्थान है क्या ? फीस चाहिए, इनाम भी चाहिए। चपरासियोंका, क्लर्कोंका खर्च चाहिए। न्यायका तो यह अर्थ है कि जज लोग चलकर गुप्त रहकर घटनाएँ तलाशें और उनका न्याय करें, पर इसकी गध भी कहाँ है ? जैसे बहुत पुराने पुरुष इतिहासोंमें सुने गये हैं कि अमुक राजा रात्रिको या दिनमे भेष छिपाकर नये भेषमें चल फिर कर प्रजाजनों का पाप पुण्य तकता रहता था और न्याय करता रहता था तो राजा लोग भी कुछ धनके अर्थ न्याय करते हैं। तो अब राजार्वोंसे न्यायकी सम्भावना तो रही नहीं।

आचार्योंकी दंडमे व न्यायमें अशक्तता—भैया ! साधुजनोंको कहा जा रहा है कि साधुजन अपने आचारसे भ्रष्ट न हों। अपने आचारोंमें सावधान रहें, इसके लिए दो उपाय थे, एक तो राजाका उपाय। उसके शासनसे साधु भी सावधान रह सकते हैं। दूसरा उपाय है आचार्य महाराजका। आचार्यदेव सयम व्रत पालन कराये दोषीको दंड दे। दूसरा उपाय यह है। सो आचार्य हो गये शिष्योंके लोभी, हमारे शिष्य बढ़ने चाहियें। लोग कहेंगे उनके साथ चार पांच महाराज हैं, इतने क्षुल्लक हैं, इतनी अर्जिकायें हैं, पचासों कमंडल हैं, पिछी हैं, ऐसा लोग कहें तब तो हमारी बड़वारी है। तो जहाँ शिष्यसमूहका लोभ मनमें आ जाता है वहाँ फिर न्यायका व्यवहार नहीं आ सकता। आचार्य किस पर कड़ाई करें ? कोई शिष्य विनयपूर्वक नही चलता है, कड़ाई करेंगे तो कल भग जायेगा, फिर शिष्यों का संग्रह कहाँ रहेगा ? दूसरी बात आचार्यजन नमस्कार करने वालों पर बड़ा विनय करने वालों पर खुश हैं, अन्य शिष्य जो कि अविनययुक्त हैं उन पर आचार्य खुश नहीं होता है। जब आचार्य उन पर खुश नहीं है और नम्रीभूत शिष्यपर खुश है तो साधुवोंके धर्ममें और अपने व्रतसंयममें

सावधानी रहे, इसका अब कोई साधन नहीं है और इसीका ही परिणाम है कि जिसके मनमें जो आये सो करे। जिस चाहे को आचार्य घोषित करदे और तो क्या अकेला भी मुनि हो तो भी आचार्य अब तो हो जाते हैं। ऐसे बहुतसे हैं भी तो जिसके मनमें जो बात आयी वही क्या धर्म है?

साधुकी निर्दोषताका आदर—अहो साधु जैसा पद जो अरहतका लघु भ्राता कहा गया है, जैसे अरहत अरहत अनन्त भी हों तो उन अरहतोंमें कितनी एकस्वरूपता है? सब सर्वज्ञ सब वीतराग सब एकसे समृद्ध होते हैं, सबका परमौदारिक शरीर है। कोई उनकी क्रियामें, उनकी आन्तरिक परिणतिमें विविधता नहीं आती है, तो श्रेष्ठता तो इसीका नाम है कि उस श्रेष्ठ पदवीमें जितने जीव हों उन सबमें एकता बनी रहे। अरहतके लघुभ्राता साधु परमेष्ठी होते हैं और उनमें अत्यन्त अधिक विविक्तता रहे कि कोई किसीको धर्म बताये, कोई किसी को बताये किसी भी क्रियामें तो यह क्या स्वच्छन्दता नहीं है। विशेष विवरणमें एक बात कही गयी है कि यह समय ऐसा नाजुक है कि यथार्थत और धर्मसेवनकी सच्ची बात मे व्यवहारिक मार्ग भी बना रहना कठिन है, ऐसी स्थितिमें भी जो साधु सत अपनी अध्यात्मपरिणतिमें रत हैं, ज्ञान ध्यान तपस्या ही जिनका एक लक्ष्य है ऐसे साधु परमेष्ठी धन्य हैं, आदर्शभूत हैं। साधु परमेष्ठियों की प्रशसाके लिए ही यह बात बतायी गयी है कि ऐसा नाजुक समय है कि जहाँ न्यायकी आशा नहीं है। धर्मपथपर एक ढंगसे कोई चला करे इसका कोई साधन नहीं है ऐसी स्थितिमें। जो साधुसंत आजकल भी अपने रत्नत्रय पर अडिग हैं वे धन्य हैं।

> एते ते मुनिमानिन कवलिता· कान्ताकटाक्षेक्षणै—
> रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुला·।
> सधर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमा,
> मावाजीन्मरुदाहताभ्रचपलै ससर्गमेभिर्भवान् ॥१५०॥

भ्रष्टसगतिका निषेध—जो पुरुष वास्तवमें अपने मुनिपदमें नहीं हैं किन्तु मुनिभेष रखकर बाह्य क्रियाकाण्ड भी कुछ कुछ मुनिकी तरह निभा कर अपने को मुनि मानते हैं, किन्तु अन्तरङ्गमें इतनी आसक्ति है कि कान्ताके कटाक्षके अवलोकनसे बिधकर विह्वल होकर बाणविद्ध हिरणोंकी तरह यहां वहा भटकते रहते हैं ऐसे साधुजन, ऐसे पुरुष भ्रष्टजन हैं, ऐसे पुरुषोंकी सगतिसे दूर रहने के लिए साधु पुरुषोंको इस छदमें उपदेश किया गया है।

साधुवोंमे निर्विषयता व निष्परिग्रहताकी विशेषता—वस्तुत· मुनिपदमें इतनी विशेषताएं होती हैं कि मुनि पांचों इन्द्रिय छठा मन, इन छहोंके

विषयोंकी आशासे दूर है, अतीत है, इनकी आशा नहीं करता, विषयोंमें महत्व नहीं समझता, विषयोंमें कल्याण नहीं जानता। विषयोंको साक्षात अहितका रूप समझता है। पहिली विशेषता तो निर्विषयताकी है, दूसरी विशेषता अपरिग्रहताकी है। जहां रंचमात्र भी परिग्रह नहीं रहा और वहां कोई अपने कुटुम्बीका ख्याल रक्खे, अपने गांव वालोंका ख्याल रक्खे, कुछ कुटुम्बियोंको भिजा दे, कुछ गांवको भिजा दे, हमारे गांवमें मंदिर है, उसको रथ बनाना है तो उसमें भिजवा दे। अपना गांव मानकर अपना कुटुम्बी मानकर उसके लिए परिग्रह करना ये सब परिग्रह ही हैं। निष्परिग्रहतामें उसका रूप नहीं आता है। दूसरी विशेषता मुनिजनोंकी अपरिग्रहताकी है। परिग्रहके सम्बन्धमें शान्ति नहीं होती है, यह बात पूर्णतया निश्चित है। परिग्रहको शल्य कहा है।

परिग्रहकी शल्यहेतुता—भैया! देख भी लो पासमें हजार दो हजार रुपये रखकर गृहस्थ भी चले तो उसे भी एक शल्य रहता है। गृहस्थको इतना शल्य न होगा क्योंकि गृहस्थको रूपये छिपानेके अनेक साधन हैं। ट्रंक है, बैंक है, कपड़ा है, थैला है, धोती है, जेब है, कोट पायजामा है, अच्छे अच्छे साधन हैं, उसे उतना शल्य नहीं है जितना कि साधुजनोंके पास हो तो उनको शल्य होता है। वे कहाँ रक्खें रुपये? क्या कमण्डलमें रक्खें? कोई लोग तो अपने सब साधन निकाल लेते हैं। बढ़िया साधन तो पुस्तक है। रुपये नोटोंमें आते हैं। सो पुस्तकके बीच रुपये रख लिये। पर चर्या करेंगे तब उन्हें कहां धरेंगे, कैसे बचावेंगे, यह एक बहुत बड़ी शल्य रहती है। तो परिग्रहमें बहुत शल्य हो जाते हैं। जिनका पद परिग्रह का है उन्हें परिग्रहमें शल्य भी हो, जिनका पद परिग्रहका नहीं है और वे परिग्रह रक्खें तो उन्हें शल्य होता है। दूसरी विशेषता साधुकी अपरिग्रहताकी है।

साधनपरिग्रहमें विह्वलता—अपने आहारका और विहारका बढ़िया साधन बना रहे। जो लोग आहार विहारका जोग जुड़ाते हैं उनके कितनी अशान्ति है उसे वे ही समझ सकते हैं। विहारका जोग जुड़ानेमें मोटर आदि अच्छे साधन रखना। इनमें कितनी आकुलता है? आत्मानुभूतिका अवसर नहीं मिलता। यह बात खूब अनुभव करके देखी जा सकती है। खटपटें होती हैं गृहस्थ जानते हैं। ड्राइवरको मनाना, व्यर्थका खर्च रखना, खर्चकी पूर्ति करना, चलते-चलते मोटर कहीं बिगड़ जाय तो उसकी आकुलताका क्या ठिकाना है? यों ही आहारका साधन सोचकर कुछ ऐसा योग साथ रखना दो एक बाइयां इसीलिए साथ हैं, वे आहारकी व्यवस्था बनवा दें। कषाय तो सबके साथ हैं। बाइयोंका ,जो मन चले,

जैसी कषाय करें उसकी पूर्ति करनी पडे, दसों खटपट हैं ये सब आकुलता के साधन हैं। साधुकी वृत्ति निष्परिग्रहताकी है।

साधुवोंमें निरारम्भता—तीसरी विशेषता है निरारम्भपनेकी। साधु कोई आरम्भ नहीं रखते, कोई झोंपड़ी नहीं बनाते, खेती नहीं कराते, कोई बाग नहीं लगाते, अपनी आजीविकाका साधन नहीं बनाते। और हमारे आहारकी अच्छी सुविधा रहे, इसके साधन नहीं बनाते। यही निरारम्भता है।

साधुवोंके परमार्थ कर्तव्य—साधुवोंको करने योग्य क्रियाकी विशेषता है कि वे ज्ञान ध्यान तपमें लीन रहें। ज्ञान ध्यान तपमें सबसे बड़ी चीज क्या है? इन तीनोंमें अपेक्षाकृत सबसे बड़ा है ज्ञान, उससे छोटा है ध्यान और उससे छोटा है तप। यहां ज्ञानका अर्थ पुस्तक पढना नहीं, सीखना नहीं, स्वाध्याय करना नहीं, किन्तु ज्ञानका अर्थ है जाननहार रहना, ज्ञातामात्र रहना। यही है ज्ञान, और पढना। स्वाध्याय करना यह तो तपमें शामिल है। १२ प्रकारके तपोंमें स्वाध्याय भी तो तप है। यहां ज्ञान शब्दका अर्थ है मात्र ज्ञाता रहना, जाननहार रहना, रागद्वेष रहित होकर वस्तुके ज्ञाता होना। यही है सबसे बड़ी विशेषता। ज्ञानमें न ठहर सके याने मात्र ज्ञाता न रह सके। कुछ तरंग ही उठ जायगा। तो ऐसे यथार्थ पथमें लगना, विकल्प करके चित्तको उस सत्पथकी ओर लगाये रखना यह है ध्यान। जब ध्यानमें भी नहीं ठहर सकते तो तपस्यामें लगे। यों ज्ञान, ध्यान और तप ये ही जिनके प्रधान कार्य हैं वे ही साधु हैं।

कर्तव्यपरायणताकी प्रेरणा—यदि अपने कर्तव्यसे शिथिल होते हुए प्रमाद करते हैं तो किए जाने योग्य कर्तव्यमें एकमें भी प्रमाद करनेसे उस प्रमादके बढ़नेका अभ्यास बढता जाता है, फिर दूसरेमें प्रमाद बढ़ता जाता है, और यों बढते-बढ़ते स्वच्छन्द आचारण वाला भी बन जाता है। साधु अपने आतरिक और व्यावहारिक कर्तव्यमे निरन्तर सावधान रहते हैं। जो साधु काम विकारसे कथित हो, किन्हीं कषायोंसे अनुरजित हो और वह अयोग्य विचार वाला बने तो ऐसे विचार वाला भ्रष्ट मुनि है, उनके संगतिका साधुजनोंको निषेध किया गया है।

> गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहायः,
> संयानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।
> प्राप्तागमार्थ! तव सन्ति गुणाः कलत्र—
> मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥१५१॥

साधुवोंके याचनाका अनवसर—हे मुनि, तेरेको क्या कमी हो गयी जो तू किसी पदार्थसे याचना भाव रखता है। यदि तू किसी परकी आशा

रखता है तो देख तो सही, याचना की जाने वाली परिस्थिति वह होती है जहा घर न हो, वस्त्र आदिक न हों, सवारी न हो, भोजन सुविधा न हो, स्त्री परिजन न हों, ऐसी स्थितिमें याचनाका अवसर होता है। मगर देख तो सही तेरे तो पारमार्थिक प्रयोजक सब कुछ है।

साधुवोंका घर और वस्त्र--तेरा घर हर जगह बना बनाया प्राकृतिक है। क्या ? गुफायें, जहा चाहेकी झोंपड़िया, तेरे जगह जगह घर हैं। जहा जायगा वहीं तेरे लायक जिसमें तेरा गुजारा हो जाय सब जगह घर मिल जाते हैं, इसलिए घरकी समस्या तो यों हल हो गयी। वस्त्रकी बात यह है कि इन वस्त्रोंको रखकर जरा झंझटमें भी आ गये। ये धोती कुर्ता, चदरा आदि हम आप सभीके चलनेमें बाधक हैं, चलते समय इनकी सभाल करनी पड़ती है, पर हे मुनि ! तेरे पास ऐसे वस्त्र हैं कि तू निश्चित और सीधा प्रत्येक कृतिके लिए उद्यत रह सकता है। ऐसी तेरी ड्रेस है। वह क्या ड्रेस है तुम्हारी ? चारों ओरकी जो दिशा ये हैं ये ही तेरे वस्त्र हैं। कभी कभी लोग ऐसा कह देते हैं कि मुनि लोग बड़ी तेजीसे चलते हैं। ये गृहस्थजन उतना तेज नहीं चल पाते हैं, तो ठीक ही है। गृहस्थजन वस्त्रों से सजे सजाये हैं। उन्हें चलते समय वस्त्रोंकी संभाल करनी पड़ती है। मुनि तो निर्ग्रन्थ मुद्रामें है उसे चलनेमे किसी भी प्रकारकी रुकावट नहीं होती है। तो ये वस्त्र हैं चलनेमें बाधक। लोग कहते हैं कि चाल चलनेमें पुरुषोंको अपेक्षा स्त्री धीरे चलती है, पुरुष तेज चलते हैं। तो और भी प्राकृतिक कारण होने पर एक कारण यह भी है कि स्त्रियोंके वस्त्रोंका पहनावा इस ढगका है कि दोनों पैर खूब लिपटे रहते हैं। चाहे साड़ी हो, चाहे पेटीकोट वगैरह हो, ये सभी वस्त्र शरीरमें अच्छी तरहसे कुण्ठित करते रहते हैं। फिर कैसे पुरुषोंके बराबर स्त्रियोंके चलनेकी होड़ लगे। यह तो बतानेकी एक बात है कि ये वस्त्र आदिक हमारी गतिमें बाधक हैं, हमारी फुर्तीमें बाधक हैं। वस्त्रोंसे तो अन्य आन्तरिक भी बाधायें है। साधुवों के वस्त्र तो निर्बाध समस्त दिशायें हैं।

साधुवोंकी सवारी व भोजन--सवारी साधुवोंकी आकाश है। किसी भी समय यह समस्या नहीं आती कि हमारे पास सवारी ही नहीं है, कैसे चलें ? अरे सब जगह सवारी तैयार है। कौन सी ? आकाश। इसे कौन हटा लेगा। इष्ट भोजन है साधुका आन्तरिक तपश्चरण। अन्तस्तप करके आत्मरुचि करके जो साधुको तपस्याका भोजन मिल रहा है उससे तो वह बड़ा तृप्त रहता है। भोजनका काम क्या है ? तृप्ति कर दे। भोजन से वह तृप्ति नहीं होती जो स्थायी रह सके या स्वाधीन हो, पर अपने चैतन्य स्वभावमें अपने आपके उपयोगमें तपानेके तपश्चरणमें जो संतोष

और तृप्ति होती है वह उससे कई गुणा भी क्या, अद्भुत विलक्षण ही होती है। तो हे साधु! तेरा भोजन है तश्चरण। और देख— स्त्री पुत्र आदिक कुटुम्बीजन ये सब तेरे हैं गुण। जो तेरेमें गुण हैं क्षमा, सरलता, मार्दव आदिक जो तुझमें गुण हैं, ज्ञानदर्शनकी शुद्ध वृत्ति, ये सब तेरे स्त्री आदिक परिजन हैं।

साधुवोंको निर्वाञ्छ रहनेका उपदेश—हे साधो! अब विचार तुझे कौन सी कमी है जिससे तू किसी परकी वाञ्छा कर रहा है। तू अयाचीक वृत्ति से रह और अपने किसी साधनके लिए, विषयके लिए किसी परवस्तुकी आशा मत रख। यहा साधुजनोंको नैराश्यमें रुचि प्रकट करनेके लिए सम्बोधा जा रहा है। नैराश्य मायने मोक्ष भी है और नैराश्यका अर्थ है जहां आशा नहीं रहती। ऐसे परिणामके लिए कहा जा रहा है। इस मुनि-शिक्षणसे हमें भी यह शिक्षा लेनी है कि हम जितना परसे विविक्त निजस्वरूपमात्र शुद्ध ज्ञान भावमें ठहरनेका उद्यम कर सकेंगे, व्यवहार धर्म भी करके हम इसकी पात्रता बना सकेंगे तो उतना यह नर जीवन सफल है। यों आत्मस्वभावकी भावना पर ही हम अपनी सब धार्मिक क्रियाएँ घटायें।

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥१५२॥

अल्पतर और महत्तर—लोकमें सबसे बडी वस्तु क्या है? छोटेसे छोटा कौनसा पदार्थ है? लोगोंने बताया कि सबसे बडी वस्तु है आकाश और सबसे छोटा पदार्थ है परमाणु। आकाश असीम है, अनन्त है और परमाणुसे छोटी चीज अन्य कुछ नहीं है। तो क्या यह बात ठीक है? इस सम्बधमें एक बार जरा और विचार लें। सबसे बड़ा है आकाश। यह तो कुछ ठीक सा जँच रहा है, और सबसे छोटा है परमाणु, एकप्रदेशी है, उससे कमका कोई परमाणु ही नहीं होता है, यह भी बात कुछ ठीक सी जँच रही है। ऐसा बोलने वाले और समझने वालेने मालूम होता है कि दीन पुरुष और अभिमानी अर्थात् गौरवशील व्यक्ति इन दोनोंको देखा नहीं है। अरे परमाणुसे भी छोटा है दीन पुरुष और आकाशसे भी बड़ा है अभिमानी अर्थात् गौरवशील व्यक्ति।

लघुता व महत्ता पर चर्चा समाधान—इस छंदमें दीनको सबसे लघु कहा है, उसका महत्त्व परमाणु बराबर भी नहीं रक्खा है और गौरवशील व्यक्ति अभिमानी पुरुषका महत्त्व आकाशसे भी अधिक बढा दिया है। सारांश यह है कि दीनता हेय है और गौरव उपादेय है। यहा एक आशंका हो सकती है कि दीन तो धर्मात्मा है। उसके घमड नहीं है, सदा नम्र रहता है, प्रिय बोलता है, सबका जयवाद करता है, आशीष देता है। देखा

होगा भिखारी जनोंको कितना प्रिय बोलते हैं वे और उनमें अभिमान तो है ही नहीं। नम्रता अत्यन्त अधिक है। तो दीनको क्यों सबसे छोटा कह दिया ? वह तो कुछ धर्मात्मा सा भी लगता है। और अभिमानी, घमंडी, सबसे ऊँची निगाह रखने वाला जो है उसे बड़ा बता दिया। समाधान यह है कि दीन पुरुषमें इतनी लोभ कषाय प्रबल है कि उस कषायकी प्रबलताके ही कारण मान आदिको भी तिलांजलिसी दे देता है, इसलिए दीन के कषाय कम नहीं हैं। लोभका रंग सब कषायोंसे तेज बताया गया है। अन्य कषायें तो ९ वें गुणस्थानमें नष्ट हो जाती हैं, पर लोभ कषाय १० वें गुणस्थानमें नष्ट होती है। लोग लोभके पीछे अपना सर्वस्व लुटा देते हैं। काहेका लोभ ? यशका लोभ, कीर्तिका लोभ, लीडरीका लोभ। लोक में महान नेता जो समझे जाते हैं वे धनके तृष्णालु होकर नहीं बन पाते हैं, लोभका रंग तो सबसे अधिक बना हुआ है।

तृष्णामें दीनताका भाव—और, भैया ! यहाँ तो याने अव्रित पुरुषों में ठीक है। पर त्यागमार्गमें देख लो, ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता जाय, प्रतिमा बढ़ती जाय त्यों-त्यों नम्रता बढ़ती जानी चाहिए। पर प्राय. होता क्या है ? उलटा। मान भी बढ़ता है और तृष्णा भी बढ़ती है। मान काहेका बढ़ता है ? हम पूज्य हैं ये जो बेचारे काम करते, घरमें रहते वे पूजक हैं, ये छोटे हैं। हम बड़े हैं—ऐसी दृष्टि जग जाती है तो त्याग धर्म कहां रहा ? उल्टा पतनमें ही गया। और, तृष्णा काहेकी बढ़ती ? अपने यश की, नामकी अथवा आरामसे मिलता है ना सब, सो उन मिलने वाले पदार्थोंकी भोजन आदिककी तृष्णा बढ़ सकती है। प्रयोजन यह है कि धर्म तो भीतरी चीज है। जिसमें सम्यक्त्व जगा उसके लिए सब सरल बात है। जिसे सम्यक्त्व नहीं जगा वहतो जैसे अन्य लोग अपनी वृत्ति रखते हैं ऐसे ही भेष बनाकर भी वृत्ति रक्खी जा सकती है। दीनता तृष्णामें और कषायमें होती है। दीनकी नम्रताको धर्म न समझना।

स्वाभिमानीकी गुरुता—अभिमानीकी बात सुनिये यहां अभिमानसे मतलब स्वाभिमानसे लेना, गौरवसे लेना। जो दीनता नहीं करता है, पर की आशा नहीं रखता है, अपने आत्माके विशुद्ध चमत्कारके अनुभवमें प्रसन्न है, गौरवशील है ऐसे पुरुषमें चाहे लोग कोई कमी ऐब भी ढूँढें, देखो यह किसीसे बोलते तक भी नहीं हैं, आदिक कुछ भी बातें लोग लगायें तब भी वह धर्मात्मा है।

दीनताके त्यागकी शिक्षा—इस छंदमें यह शिक्षा दी है कि हे कल्याणार्थी पुरुषों ! दीनता मत करो। दूसरोंसे अच्छा बोलना, प्रेमका व्यवहार रखना, दूसरोंको सन्मान देना, अपनेको नम्रतासे रखना, अपनेको नीचे

रुखसे रखना, दूसरेका ऊँचा रुख बनाना, इसमें दीनता नहीं होती है। दीनता तो जहाँ अज्ञान बसा है और विषयोंकी आशा लगा रक्खी है दीनता तो वहाँ है। दीनताको प्राय लोग समझ जाते हैं पर किसी किसीकी दीनता समझमें भी नहीं आती, लेकिन वह विषयोंके आधीन है तो वह दीन ही है। दीन सबसे छोटा है, लघु है और जो अपनी गुण-शक्ति, प्रभुता, चमत्कारसे ही तृप्त है, परकी आशा नहीं रखता, परसे अपना बड़प्पन नहीं मानता ऐसे गौरवशील व्यक्तिसे बढ़कर लोकमें कोई बड़ा नहीं है। यह बात दिखानेके लिए परमाणु और आकाशका दृष्टान्त देकर और उससे उस दृष्टान्तको भी अघटित बनाकर इससे भी अधिक छोटा दीनको कहा और सबसे बड़ा गौरवशील व्यक्तिको कहा है।

याचितुर्गौरव दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥१५३॥

याचककी लघुता व दाताकी गुरुता—याचना करने वाला—इन इन दो व्यक्तियोंके सम्बंधमें कुछ कहा जा रहा है। सीधे शब्दोंमें यों कह लो–लेने वाला और देने वाला, अथवा और सीधे शब्दोंमें कही मांगने वाला और ये दोनों थे देने वाला। कविकी कल्पना है कि याचना करने वाला व्यक्ति और देने वाला व्यक्ति तो एक बराबर समान, पर याचनाकी क्रिया और देनेकी क्रिया होनेके कारण मालूम होता है कि याचक व्यक्तिका बड़प्पन याचकमेंसे निकलकर दातामें पहुच गया है इसलिए उसका पलड़ा बड़ा हो गया है। यदि ऐसा न होता तो जो ये दो व्यक्ति पहिले समान थे, अब उनमें एक लघु बन गया और एक गुरु बन गया, बड़ा बन गया। यह अन्तर कहाँसे आ गया? मालूम होता है कि याचकका गौरव निकलकर दातामें आ गया।

साधुके अयाञ्चाभाव—इस प्रसंगमें एक शंका यह आ सकती है फिर तो साधुजन जो भिक्षावृत्तिसे आहार लेते हैं वे तो लघु बन जायेंगे और देने वाला दाता गुरु बन जायगा। ऐसा यदि मान लिया जाय तो हानि क्या है? पर ऐसा है नहीं क्योंकि साधुजन याचना नहीं करते। भले ही वे अपना सकेत लेकर चलते हैं, किन्तु कोई स्वाभाविक नवधा-भक्ति पूर्वक उनको निवेदन करे तो वे आहार ग्रहण करते हैं। वहा याचक और दाता जैसी बात नहीं होती। ऐसी स्थितिमें भी लेने वाला बड़ा और देने वाला छोटा होता है। आशय देखना चाहिए। याचक तो अपना विषय पोषण करनेके लिए, अपना शारीरिक मौज लूटनेके लिए याचना करता है और दाता भी उसे दयापात्र समझकर भोजन आदिक दे दिया करता है। किन्तु साधु और श्रावकके परस्पर व्यवहारमें बहुत विलक्षणता है।

नवधाभक्तिकी उपयोगिता—इस शंकाके समाधानके प्रसगमें एक शंका

और उठायी जा सकती है। तब तो वे साधुजन अभिमानी हुए, जब कोई नवधाभक्ति करे तब आहार करें। भक्तिमें कमी देखें तो आहार न करें। इसके समाधानमें दो बातें जाननी हैं कि साधु उस नवधाभक्तिके द्वारा दो बातोंकी परख करता है—एक तो यह कि यह श्रावक प्रसन्न होकर उमंग सहित देना चाहता है। कहीं किसीको जबरदस्तीसे राजा या गांवके मुखिया इनके दबावसे नहीं दे रहा है। यह परख नवधाभक्ति निरखकर ही हो पाती है। दूसरी बात यह नवधाभक्तिसे समझ जाते हैं कि श्रावक को सब विधि मालूम है। आहार निर्दोष होगा। आहारकी शुद्धि और दाताकी प्रसन्नता--इन दो बातोंके जाननेका साधन नवधाभक्ति है। भक्ति में कमी होने पर वे आहार नहीं लेते। उसमें अभिमान कारण नहीं है किन्तु भक्तिके अभावमें उन्हें यह शका हो जाती है कि इनको आहार बनानेकी विधि भी न मालूम होगी। शुद्धि भी न होगी और इनको प्रसन्नता भी नहीं है। किसीके दबावमें या किसी व्यवस्थामें जैसे कि मदिरमें पूजाकी बारी लग जाती है ऐसी बारी लगाकर किया जा रहा हो यह समझमें आये तो साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते। वहां याचक और दाता जैसी बात नहीं है किन्तु गुरु और शिष्य उपास्य और उपासक जैसी बात है। साधुजन उपास्य हैं और श्रावक उपासक हैं। जो अपने विषयके लिए, मौजके लिए, आरामके लिए इन्द्रिय पोषणके लिए निकलता है वह चाहे भेष साधुका रखे हो पर तब भी वह भीतरमें याचक है, मांगने वाला है। वहां तो और भी लघु हो जाता है, पर जो साधु अपनी शुद्ध साधुचर्या से प्रवृत्ति करते हैं वे लघु नहीं हैं, गुरु हैं।

**याचनाका रूप**—एक छोटी सी घटना है—कोई साधु था, जो चार पांच छः घरोंसे मांग लाये और एक जगह बैठकर खाये, इस पद्धतिके साधु थे। वह अपनी पद्धतिसे चर्या करने गया। एक घरमें पहुचा तो वहां स्त्रीने मना कर दिया। अभी तुम्हारी व्यवस्था नहीं है, आप दूसरी जगह जावो, साधुको इतनी बात सुनकर गुस्सा आ गया और वह गुस्सेमें बोला—तू रत्नप्रभा जायगी। रत्नप्रभा पहिले नरकका नाम है। स्त्री बेचारी कुछ जानती न थी कि रत्नप्रभा नरकका नाम है, नाम तो बड़ा सुन्दर है—रत्नोंकी प्रभा। तो भक्तिवश बोली—महाराज रत्नप्रभा जानेके हमारे कहां भाग्य हैं, ये तो भाग्य आपके ही हो सकते हैं। जो विषयोंके वश हैं वह दीन है। दीनताकी यही शुद्ध परिभाषा है।

**विषयोंकी अवशतासे दीनताका त्याग**—भया ! दीनताको त्यागो इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरोंको लट्ठ मारो, अट्टसट्ट बोलो, किन्तु अर्थ यह है कि अपने मनको, अपने उपयोगको विषयोंके आधीन मत कर लो। रसन

के वश हो गये अथवा अन्य विषयोंके वश हो गये। इस वशतामें ही दीनता वसी हुई है। एक अपने शुद्ध सहजस्वरूपको ध्यान लो उससे अपना गौरव समझो। मैं परिपूर्ण हू और मेरे करनेको वाहरमें कुछ नहीं पड़ा। मैं कृतार्थ हू, अपने आपके स्वरूपावलोकनसे तृप्त होकर दीनताको त्यागे इसमें ही कल्याण है।

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयो ॥१५४॥

अधोगति व ऊर्ध्वगतिके पात्र—जो ग्रहण करनेकी इच्छा रखने वाले पुरुष हैं, जो विभावोंको अपनाये रहनेकी धुनमें रहने वाले लोग हैं, जो सचयकी वुद्धि वाले जन हैं वे नीची दशाको प्राप्त होते हैं, नीचे जाते हैं और जो सचय करनेकी धुनमें नहीं हैं, ग्रहण करनेके उत्सुक नहीं हैं, उदार चित्त हैं ऐसे पुरुष ऊपर जाते हैं। इस रहस्यको तराजूने खोलकर लोगों को वता दिया। जैसे तराजू दोनों पलड़ों पर जिस पलड़े पर अधिक चीजें रखी हैं वह पलड़ा नीचे जाता है और जिस पलडेमें अधिक चीजें न हों वह पलड़ा ऊपर जाता है। तात्पर्य यहाँ यह लेना कि भिन्न असार परवस्तुवोंको अपने आपमें उपयोगमें वनाये रहना, ग्रहण किये रहना, संचय करना, त्याग न सकना ऐसी वृत्ति रहती है तो वह अधोगतिको प्राप्त होता है, दुर्गतिको प्राप्त होता है। वर्तमानमें भी वह क्लेश संक्लेश किए रहता है और परलोकमे भी उसे तुच्छ गति मिलती है।

परग्रहणका वोझ—भैया! मालूम भी होता है कि जब चित्तमें वहुत सी परवस्तुयें वसी रहती हैं तो यह चित्त वोझसा मालूम होता है, जैसे वोझसे वहुत लदा हुआ हो ऐसा अनुभव होता है। जो स्वयं दुःखी है उसे सव दुःखी ही नजर आते हैं और जो स्वयं शान्त वना हुआ है उसे दूसरे भी शान्त नजर आते हैं। कोई अशान्त हो तो भी शान्त पुरुषको ऐसा लगता है कि ये सव शान्त हैं। ये लोग तो वनावटी अशान्त हो रहे हैं। है सव खुश, हैं सव शान्त। उसको भीतरमें यों ही दिखा करता है, जैसे कोई दुःखी पुरुष दूसरेसे वातें करता हुआ ऊपरसे हँसता है, हँसकर वोलता है ताकि दूसरे न जान पायें कि यह दुःखी है पर दुःखीकी हँसी और सुखीकी हँसी छिपी रहती है क्या? इस दुःखी पुरुषको ये सभी लोग दुःखी ही नजर आते हैं। परपदार्थोंका अपने चित्तमे वोझ वना लेना यही तो दुःखकी चीज है।

अकिञ्चन निजस्वरूपकी दृष्टिमे निर्भारता व निराकुलता—जो पुरुष अपनेको अकिञ्चन मान ले—यह मैं तो मात्र ज्ञान प्रकाश हू, इसमें और कुछ दूसरा लगा ही नहीं है, यह तो शाश्वत सदा सवसे न्यारा है। इसमें

किसी दूसरेका सम्बंध ही नहीं है, यों अपने आपको अकिञ्चन ज्ञानमात्र निरखे तो उसके चित्तपर बोझ नहीं होता है और वह सुखी रहता है। जो परको ग्रहण करनेकी इच्छा रखता है वह बन्धनके कारण अधोलोकको प्राप्त होता है और जो परवस्तुओंको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रखता, अपनेको अकिञ्चन निज स्वरूपमात्र निरखता है वह ऊर्ध्वलोकको प्राप्त होता है। इससे हम यह शिक्षा लें कि हम अपने आपको निश्चित निर्भार निजस्वरूपमात्र प्रतीतिमें लें, इससे ही अशान्ति दूर होगी और हम शान्त रह सकेंगे।

सस्वमाशासते सर्वं न स्वं तत् सर्वतर्पि यत्।
अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निःस्वता वरम् ॥१५५॥

निःस्वताकी प्रशंसा—इस जीवको जैसी दृष्टि मिलती है उसके अनुसार उसपर सुख दुःख आदिका अनुभव चला करता है। कोई पुरुष निर्धन हो और लोग ऐसा वर्णन करें जिसमें यह झलके कि धन होना बुरी चीज है। धनी लोग बड़े दुःखी हैं, परेशान हैं, उनकी जिन्दगी बेकार है। रात को नींद नहीं आती, अनेक बातें कही जायें तो ऐसी दृष्टि मिलने पर उस दरिद्र धनहीनको भी बड़ा सुख उत्पन्न होता है और उसकी दृष्टिमें अपने आपकी परिस्थिति बड़ी सुखमय नजर आती है। धनिकके प्रति ऐसा वर्णन चलें, लोगोंकी चर्चायें चलें जिससे यह प्रकट हो कि दरिद्रताका जीवन काहेका जीवन, यश नहीं, पूछ नहीं, कलके खानेका भी बन्दोबस्त नहीं, काहेका जीवन रद्दी झोपड़ी है, रहने को मकान नहीं है ऐसा वर्णन चले तो धनी लोग सुख मानते हैं, और कदाचित् धनियोंकी गोष्ठीमें ऐसा वर्णन चल जाय कि अब तो ऐसा कानून बनेगा कि लोग एक मकान रख सकेंगे, बाकी सब सरकार ले लेगी, और अब किसीके १० हजारकी कमायी हो तो ६ हजार टैक्स लगेगा। खूब डट-डटकर ऐसी बातें आयें और अब डाकू लोग निर्बाध हो गये हैं, जब चाहे पकड़ ले जायें। पुलिस भी उनसे मिल गयी है, ऐसी बातें की जायें कि धनिकोंकी दृष्टिमें एक भयानक वातावरण आये तो वे दुःखी हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस जीवको जैसी दृष्टि मिले उसके अनुसार सुख दुःख गुजरता है। धन होने अथवा न होनेसे सुख दुःखकी बात नहीं है। यहाँ साधुवोंको सम्बोधन किया जा रहा है।

अकिञ्चन वृत्तिके लिये प्रेरणा—वह ग्रन्थ साधुवोंको संयम और चारित्रमें स्थिरता करानेके लिए रचा गया है। इस प्रकरणमें यह कह रहे हैं कि धनवत्तासे निर्धनता ही श्रेष्ठ है और उसमें एक दृष्टि यह दे रहे हैं कि देखो जो धनवान् है उससे सभी आशा करते हैं, पर कोई धनवान

ऐसा नहीं है, किसीके पास ऐसा धन नहीं है कि जो सबको संतुष्ट कर सके। यदि ये धनी लोग जिनकी यह धनवत्ता अपूर्ण है। आशा करने वाले जो अर्थीजन हैं उनकी विमुखताको ये किया करते हैं। तो उस श्रीमत्से क्या लाभ? जो निर्धन हैं उनसे कोई विमुख होकर नहीं निर्धनसे निराश होकर कोई नहीं जाता। जो भी निराश होता है वह धनिकोंसे निराश होता है। इसका क्या मतलब? अरे निर्धनके पास कोई आशा लेकर ही नहीं आता, फिर निराश होकर कैसे जाय? जो भी निराश होकर जायगा वह धनिकोंसे निराश होकर जायगा। तो अर्थी अभिलाषी आशावान पुरुषों की विमुखताको करने वाली यह सम्पदा है। इस सम्पदाके होनेसे तो निर्धनता ही श्रेष्ठ है। कमसे कम किसीके दुःखका कारण तो न बनेगा और ये धनी लोग हजारोंके दुःखके कारण बनते हैं। साधुवोंको यह समझाते हैं, उनकी दृष्टिमें यह बात बैठाते हैं कि धनका होना कोई अच्छी बात नहीं है ताकि इन साधुवोंको पुनः गृहस्थीमें भावना न जाय।

सुख दुःखमें दृष्टियोंका प्रभाव—कोई यदि यह समझता हो कि धनवान् होने पर ये धनी समस्त अर्थी पुरुषोंके मनोरथोंको पूर्ण कर देंगे इसलिए धनवान् होना भला है। ऐसा सोचना व्यर्थ है। ऐसी श्रीमत्ता किसीके भी होती न होगी जिससे ये पुरुष समस्त अर्थी जनोंके मनोरथोंको पूर्ण कर सकेंगे। कुछ ही सम्पदा तो रहती है, भरपूर तो नहीं, फिर आशा करने वाले सभी अर्थी होते हैं। तो सबकी आशा पूर्ण हो जाय ऐसा स्थल, ऐसा धाम कोई नहीं है तब वे अर्थीजन देखकर विमुख हो जाते हैं ऐसे धनवानपनासे तो निर्धन होना ही भला है। देहातोंमें जब गर्मीके दिन आते हैं उन दिनोंमें डाकुवोंका आतंक ज्यादा हो जाता है तो धनीजन अपना घर छोड़कर किसी गरीबके घर खाट बिछाकर सोया करते हैं। उन दिनों निर्धन लोग धनिकोंका यह खेल देखकर गरीब लोग बड़ी अनाकुलताकी सांस लेते हैं। तो दृष्टिकी ही तो बात है, हम पर कैसी स्थिति गुजर रही है उसका कुछ असर नहीं होता, पर हमारे अन्तरङ्गमें कैसी दृष्टि बन रही है उसका असर होता है।

दृष्टिका बलाबल—कोई करोड़पति पुरुष कहीं ५—७ लाखके घाटेमें पड़ जाय और वह उसे असह्य हो जाय, वही-वही बात उसकी दृष्टिमें रहा करे तो उसको बड़े रोग पैदा हो जाते हैं, दिलकी बीमारी बन जाती है। हुआ क्या? केवल एक दिल चल गया, एक ओर उसकी दृष्टि बन गयी। अब वह असाध्य बीमार बन जाता है। और कोई १०—२० लाखका टोटा पड़ जाने पर भी यह ख्याल बनाले शुरूसे क्या हुआ—ऐसे ही तो लोटा डोर लेकर आये थे। १०—२० वर्षोंमें अपने ही हाथोंसे यह कमाया था।

हमारे पास पहिले था क्या? गया तो गया। प्रारम्भसे ऐसी साहस भरी दृष्टि बना ले, तो उसका दिल थम जाता है और इसपर दुःखकी वेदना की आग नहीं गुजरती। तात्पर्य यह है कि हम लोगोंका रक्षक समीचीन दृष्टि है।

अधिक धनकी अनावश्यकता—एक नजरसे देखा जाय तो जिसको जितना धन मिला है सबको जरूरतसे कई गुणा अधिक मिला है, इतना न चाहिए था। इतनीकी क्या जरूरत थी? सबकी बात कह रहे हैं कोई एक व्यक्तिकी बात नहीं कह रहे हैं। कल्पना करो कि इतना धन न होता, इससे चौथाई ही होता तो क्या गुजारा न होता? औरोंको देख लो- करते हैं गुजारा या नहीं तो जरूरतसे सबको ज्यादा मिला है कि नहीं? लेकिन ऐसी दृष्टि नहीं बनती है। जो मिला है वह यों दिखता है कि जितनी जरूरत है उसका यह चौथाई हिस्सा भी नहीं है। यों सोचकर दुःखी हो जाते हैं। सब दृष्टिका खेल है।

वस्तुसे लाभालाभके हिसाबकी अयुक्तता—भैया! चीजमें हिसाब किताब मत देखो, क्या मेरे पास है, क्या नहीं हैं, अपनी दृष्टि समीचीन बनाओ और विरक्तता चित्तमें रखकर उदारताका परिणाम रक्खो। एक अनुदारताका परिणाम होनेसे पुण्यरस क्षीण होता है, पापकी वृद्धि होती है और उदारताका भाव होनेसे पुण्यरस बढ़ता है, पापरस क्षीण होता है। एक बात, दूसरी बात—इस ज्ञानीको यह साहस होता है कि मेरा क्या है यहाँ पर। मैं तो केवल एक ज्ञानका पुञ्ज हूं, न्यारा हूं। कहींसे आया हूं, कुछ दिन यहाँ रहकर यहाँसे चल दूंगा। मैं तो वह हूं जिसे देहाती लोग लोग हवा कह देते हैं। मैं एक सूक्ष्म अमूर्त चैतन्यतत्त्व हूं। मुझे इस जड़ सम्पदाका लगाव रखनेसे, इसमें ममता रखनेसे कौनसी सिद्धि हो जायगी? क्या यह मरने पर साथ जायगा? सब ठाठ पड़ा रह जायगा। इतनी बातें जानकर उदारताका परिणाम होना चाहिए।

दृष्टिकी निर्मलतासे परमार्थ लाभ—यह धन हो या न हो, यह कुछ वेदनाका कारण नहीं है। उदयानुसार सब स्थितियोंमें गुजारा होता है। हमारी दृष्टि अच्छी ओर लग जाय तो उसमें सुख और आनन्द प्राप्त होता है। हमारी दृष्टि अवगुण तृष्णा कषाय मोह भरी बन जाय तो उसमें वेदना उत्पन्न होती है। अपनेको सुखी करनेके लिए दृष्टि भर बनानेका यत्न करना होगा। सम्पदाके संचयका यत्न करनेसे सुख मिलेगा, यह भाव छोड़ दो किन्तु अपनी दृष्टिको निर्मल बनानेसे शान्ति मिलेगी यह ही निर्णय रक्खो। इसीलिये इस धनवत्तासे निर्धनता ही श्रेष्ठ है ऐसा इस छंदमें कहा है।

आशारवनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम्॥१५६॥

आशारवनिकी अगाधता व पूर्ति—यह आशारूपी गड्ढा निधियोंके द्वारा तो और अगाध होता जा रहा है। ऐसा गड्ढा देखा है या सुना है क्या किसीने कि कूड़ा करकट जाय तो वह गड्ढा और अधिक गहरा होता जाय? इसका आशय यह है कि यह आशारूपी गड्ढा इसमें जितनी निधियां डाली जाती हैं यह और गहरा होता जाता है। इस गड्ढेको तो भर सकने वाला एक मानरूपी धन है। धन आदिक की चाह करना, इसी का तो नाम आशा है। आशा ही एक बड़ी खान है। यह निधियोंसे भी अथाह है। निधियोंमेंसे तो धन आदिक निकालो तो निधि टूटती नहीं है लेकिन कदाचित उनकी भी थाह आ जाय पर आशामें जो धन आदिककी चाह पायी जाती है उसकी तो थाह ही नहीं है। निधि मिलनेसे यह आशा बढ़ती ही चली जाती है। इसको तो संतोषसे ही भरा जा सकता है। संतोष करना यही मान धन है। गौरव रख लेना, अपनेको कायर न बनाने देना यह सब स्वदर्शन भावसे साध्य है। यह आशारूपी गड्ढा एक संतोष धनसे समान किया जाता है। कहा भी है एक दोहामें कि कितना ही धन आ जाय, गौ धन, गज धन, वाजि धन, उससे दरिद्रता नहीं हटती, किन्तु जब एक सन्तोष धन है तो ये सब धन धूलके समान हो जाते हैं और उसे वास्तविक धन प्राप्त हो जाता है। एक संतोषसे ही यह आशाका गड्ढा भरा जा सकता है।

संतोषमें ही लाभ—अच्छा देखो भैया! कोई न करे संतोष तो क्या हालत होगी। क्या हालत हो रही है? असंतोष कर करके एक अपनी वेदना बढ़ा रहे हैं दूसरोंके लिए उल्लू बन रहे हैं, मूढ़ बन रहे हैं। अपने को क्या लाभ है। असन्तोष रखने वाले पुरुष दूसरोंके लिए मूर्ख बन रहे हैं। जो स्थिति है ठीक है। हमारे अन्तरङ्गकी स्थितिमें वृद्धि [illegible] हो। शुद्ध ज्ञान दृष्टिका विकास हो इतनी बात हमको मिले। हम हमारी दृष्टि में विशद नजर आ जायें। ये जड़ सम्पदा, धन दौलत इस आत्माका क्या काम देंगे?

दृष्टिका सुख दुःखमें सहयोग—अभी बताया था कि जैसी दृष्टि होती है तैसी चित्तपर गुजरती है। खूब अच्छी तरह रह रहे हों और कोई यह कहे कि तुम्हारा तो वह ऐसी निन्दा कर रहा था, तुम्हारी तो ऐसी बात चल रही थी। एकने कहा दूसरेने कहा, बस उसके दिलमें अब वही एक बात भरी है। चाहे उसकी प्रशंसा ही हो रही हो, निन्दाका नाम न हो पर दृष्टि तो उसकी उस ही बातपर रहती है। वह तो दुःखी हो जायगा। तो

सबका कारण यह दृष्टि है।

बारबार भावनाका असर—एक पुरुष कोई अच्छी बकरी लिए जा चला रहा था। चार चोरोंने देख लिया। सोचा इस बकरीको कैसे छुड़ायें? सलाह कर ली, और वे आगेके रास्ते पर एक एक मील दूर खड़े हो गये। जब बकरी वाला गुजरा तो पहिला पुरुष कहता है—अरे तुम यह कुत्ता कहाँ लिए जा रहे हो? सुनकर उसने कुछ अनसुनी कर दी। कानमें तो आ ही गयी। आगे दूसरे मील पर दूसरा आदमी बोलता है–वाह! यह कुत्ता कहाँसे लाये हो? कुछ उसके चित्तमें आ गया कि शायद यह बकरी नही है। खूब निगाहसे देखा तो कुछ ऐसा लगा कि शायद यह बकरी हो। आगे तीसरे मीलपर तीसरा पुरुष बोला– यह कुत्ता किसलिए लिये जा रहे हो? अब तो उसे उसमें कुत्तेकी ही शकल दिखने लगी। जब चौथे मीलपर पहुचा तो चौथे पुरुषने कहा—वाह यह कुत्ता किसलिए महाराज साहब लिए लिए फिर रहे है। बस वहीं उस बकरीको छोड़कर चल दिया तो भैया! जो बात बराबर सामने आती है वही बात उसको दिखने लगती है। चाहे गुणोंके बताने वाले उससे ५० गुणे हों लेकिन कोई दोषकी बात एक-दो भी कह दे तो उसके लिए तो सारीदुनिया कह रही है। यों दृष्टिमें आता है। तो यों ही यहाके समागमकी भी बात है कि जब जैसा मूढ़ बन गया वैसा ही अपनेको प्रवर्ताने लगा।

ज्ञान धनसे आशारवनिकी पूर्ति—भैया! लोगोंके कहनेमें अपने आपको कायर न बना सकें यह ज्ञानका ही काम है। मेरे लिए मेरा अपना स्वयका आत्मा सदा समक्ष रहे, यह मैं हूं, यह स्वयं आनन्दमय है, ऐसा संतोष होना चाहिए। दुनिया सारी भी मिलकर मेरे विरुद्ध कुछ कहे तो भी मेरे पर क्या उनका असर है। लोग है, उनका चित्त है, उनका मुंह है, बोलते हैं। स्वयमें यदि कुछ कमजोरी है तो आकुलित होंगे। स्वयंकी आत्मीयता[illegible] स्वयंको समर्थ बना लें तो सब धन पा लिया, और एक अपने [illegible] भी कुछ शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यह आशा[illegible] से ही भरा जा सकता है।

आशारवनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥१५७॥

आशारवनिके भावका उपाय—यह आशारूपी गड्ढा अथाह है, बड़ा गहरा है, और इस गड्ढेमें तीनों लोक जरा सी जगहमें पड़े हुए हैं। अर्थात् आशामें ये तीनों लोक बस रहे हैं और वे भी आशाके गड्ढेके एक कोनेमें समा गये हैं। अभी यह आशाका गड्ढा और बाकी साराका

पुद्गलोंका उसमें क्या अपराध है ? क्यों ये घृणाके योग्य हैं ? अरे इन मांस खून पीप आदि घृणित पदार्थोंको बनाया कैसे जाता है ? क्या जिन वर्गणावोंसे ये मांस खून पीप आदि बने हैं ये पहिलेसे ही ऐसे गंदे थे ? इस जीवने जब तक इन वर्गणावोंको शरीररूपसे ग्रहण न किया था तब तक क्या ये वर्गणायें ऐसे मांस लोहू आदिके रूपमें थीं ? नहीं। वे तो विशुद्ध वर्गणायें थीं। उनमें गंदगी कुछ न थी। लेकिन इस जीवने जब उन्हें ग्रहण किया अर्थात उन वर्गणावोंपर यह जीव आया, इस जीवका सम्पर्क हुआ तो इन वर्गणावोंकी स्थिति बिगड़ने लगी। जिसे लौकिक दृष्टिमें कहा जाता है गंदे हो गये, मांस, खून पीप बन गये। तब गंदा हुआ असलमें यह जीव। जिस जीवके सम्बंधके कारण ये विशुद्ध नोकर्म वर्गणायें खून आदि रूपमें बन गयीं।

मोहभावकी घृणास्पदता—अब इस जीवमें भी देखो। यह जीव पदार्थ घृणाके योग्य नहीं है। यह तो एक शुद्ध सहज ज्ञायकस्वरूप मात्र है। इस जीवमें जो मिथ्यात्व मोहका भाव बना है वह मोह भाव गंदा है। इस लोकमें सबसे अधिक निंदनीय, घृणाके योग्य गंदा क्या है ? मोह। यह नाली नहीं, यह बदबू जहांसे आती है वह कूड़ा कचरा गंदा नहीं है। गंदा है मोहभाव, जिसके फलमें ये कूड़ा कचरा नाली आदि सब पदार्थ दुर्गन्धित हो गये। विकारोंमें रुचि जगे यही सबसे अधिक मलिनता है। हे साधु, हे कल्याणार्थी पुरुष: जब इन कर्मोंके कारण तेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख नष्ट हो गया। ये असार, अहितरूप, धोखेसे भरे हुए इन्द्रिय सुख मिले हैं तो तू इनमें तृप्त हो रहा है। तुझे अब लाज भी नहीं आती। इनसे मुख मोड़ो और अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावकी दृष्टि करो।

कर्मविजयमें साम दाम दंड भेदका उपाय—हे आत्मन्! तुझमें तो इतना माहात्म्य है कि इन कर्मोंको सूचना देकर इन्हें दूर कर सकता है। हे कर्म! तुम सब मेरा साथ छोड़ दो। देखो तुम मेरी जातिके नहीं हो। और तुम्हारे सम्बंधके कारण मुझे व तुम्हें कुछ नफा भी नहीं है। तुम भी पहिले विशुद्ध कार्माणवर्गणा थे और जब सम्पर्क हुआ तो कर्मरूप बन गये। प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग तुममें हो गये। तुम भी बिगड़ गये। देखो मेरा कहना मान लो, मेरा साथ छोड़ दो। यों समतासे समझाये,, सांमसे समझाये और साममें यदि ये न मानें तो इन्हें दामसे समझाये रे पुण्य तेरे उदयसे जो मुझे मिला है तू इस सब वैभवको पाई पाईसे संभाल ले, पर तू उद्दण्ड मत हो। यों इन कर्मोंका मन दामसे भर दो, और इतने पर भी कहना नहीं मानते तब तू अपना शौर्य संभाल, अन्त:पुरुषार्थ सहित आ। एक उत्साह ही तो जगाना है एक अन्तर्दृष्टि ही तो बनाना है। तू इन्हें दंड देकर निकाल। और भेद विज्ञान करके इनका ऐसा भेदन

कर कि ये समूल नष्ट हो जायें। तुझमें अपार सामर्थ्य है।

पदभ्रष्टतापर खेदप्रकाशन—जैसे उस राज्यभ्रष्ट महान् राजाको वैरी का दिया हु । और बडे कष्टसे दिया हुआ और रद्दी दिया हुआ भोजन खाकर वह राजा खुश हो, बड़ा मौज मान छककर खाये तो यह निर्लज्जताकी ही बात है ऐसे ही भ्रष्ट साधु! देख तेरे कर्मोंने तेरी निधि हर ली तो ये तेरे वरी ही तो हुए। अब यह कर्म वैरीका दिया हुआ थोड़ा सा जो कोई भोजन आदिकके साधन है, (और तो साधुको मिलेगा क्या,) तू उस इन्द्रिय सुखमें लीन हो रहा है तो तुझे लाज नहीं आती। उपवास आदिके तू बडे-बडे कष्ट सह रहा है, जब जो गृहस्थके घर जैसा तैसा कुछ आहार मिलता है तू उसे ही समझता है कि मेरी तो बँधी हुई आजीविका है, उसमें सन्तुष्ट होता है तो तू निन्द्य है। जैसे उस भ्रष्ट राजाको करना तो यह चाहिए कि फिर वह उपाय बनाये, हिम्मत करे कि उस राजा पर विजय करे, ऐसे ही तुझे करना तो यह चाहिए था कि अपना पुरुषार्थ संभाले और कर्मोंका नाश करे। पर करने क्या लगा विषयोंकी आसक्ति। इन इन्द्रिय सुखोंसे मुख मोड़कर अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि कर और इसमें ही तृप्त हो।

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्प स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशये ॥१६१॥

अभीष्टप्राप्तिमें धैर्यके प्रयोगका सन्देश—हे आत्मन्! तुझे यदि इन्द्रिय सुखोंकी ही चाह है, विषय भोगोंकी ही चाह है तो देख उसका भी बहुत बढ़िया उपाय बता रहे हैं। खूब विषय सुख मिलें, खूब इन्द्रिय सुख मिलें, देख तू जरा धैर्य धर। तुझे विषयोंकी चाह हुई है तो इस चाहकी वेदना को सह ले, इसमें तू मनमाना न बन, धैर्य धर। देख तेरी इस धीरताके प्रतापसे तुझे सागरों पर्यन्त स्वर्गोंके भोग मिलेंगे। जैसे कोई पुरुष सामने बहुत सुपक्व अभीष्ट मिष्ट भोजन भी देख रहा है, मुझे यह मिल रहा है पर उसके मिलनेमें जरा सी देर है। जैसे मान लो दो तीन कड़ाही चढ़ी हैं, हलुवा पूड़ीकी तथा अन्य मिठाइयोंकी, उसके मिलनेमें १०-५ मिनटकी देर है, मानो रसोई घरमें वह थाली लिए बैठा है उसे धैर्य नहीं है यों समझिये, जरासी गुस्सा आ गयी हो या यों समझिये, सहनशीलता नहीं है। अरे ठहर जा १०-५ मिनट, यह अभी उतरती है अभी खा लेना, लेकिन इसे धैर्य नहीं है तो लोटाभर पानी पीकर पेट भरकर उस मिष्ट भोजनके खानेका अवसर खो बैठे, पेट तो भर लिया है एक लोटा पानी पीकर। अब यह पानी कहाँ समायेगा। ऐसे ही हे मनुष्य तू चाहता है मनमाने इन्द्रिय सुख भोगविषय, सो देख, सब तैयार हो रहे हैं। तुझे सागरों पर्यन्त स्वर्गों के सुख मिलने हैं। जरा कुछ देर है। तू इतनी देर धैर्य नहीं रख पाता और

इन विषय सुखके साधनोंमें बेहताश होकर इनमें ही लग जाता है तो तूने चिरकाल पर्यन्त तक जो सुख मिलना था उसे नष्ट कर दिया, खो दिया।

अधीरतामें हानि—जैसे मिष्ट सुपच भोजनको सामने देखकर भी, जरासा विलम्ब है इतना भी तू धैर्य नहीं करता, याने इन दस पांच मिनट की भी तू भूख नहीं सह सकता और जल आदि पीकर अपना पेट भरता तो तूने भोजनका नाश किया, ऐसे ही हे विषयोंके अभिलाषी मूर्ख पुरुष! अरे धर्मसाधनाके प्रतापसे थोडे ही कालमें तुझे स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होगी, वहाँ विशेष विषयसाधन मिलेंगे, उसे तू विचार और यहांके भोगोंसे विराम ले, धैर्य धर। यदि यहांके भोगोंमें ही लीन हो गया तो भविष्यके सुख न मिलेंगे। अरे जब तक यह मनुष्य आयु पूर्ण होकर स्वर्ग मिले इतने काल तो तू धैर्य नहीं धरता, इन विषयोंकी चाह और वेदनाको नहीं सह सकता और कुछ सदोष भोजन करके या अन्य प्रकार विकार करके तू स्वर्गके सुखोंका नाश करता है। तू ऐसा कार्य मत कर। जो तुझे संसार के सुखोंकी ही वाञ्छा है तो थोड़े काल धैर्य धर। इसके प्रतापसे तुझे चिरकाल तक सुख मिलेगा।

यथायोग्य सबोधन—यह ऐसे साधुवोंको समझाया है, जो कि भोगों की वाञ्छासे ग्रस्त होनेको हैं। कहीं यह पूर्ण परमार्थ उपदेश नहीं है कि देख तुझे स्वर्गके सुख मिलेंगे उनके लिए तू धैर्य धारण कर। यद्यपि विषयों की अभिलाषा कुछ भी योग्य नहीं है लेकिन जो यह भ्रष्ट हो रहा था उस जीवको लोभ दिखाकर थामा गया है। अनेक दृष्टियोंसे यह बात पूर्ण सिद्ध प्रसिद्ध है कि इन इन्द्रिय सुखोंको भोगकर लाभ कुछ न मिलेगा। भोगाभिलाषी अपने ज्ञान सम्पत्तिको बरबाद करता है और अनेक शल्य चिन्तावोंका पात्र बनता है। अपने भविष्यको बिगाड़ता है। कुछ विवेक करे यह जीव तो यह अपने मनपर विजय कर सकता है। एक ही कर्तव्य है। जैसे बने तैसे ज्ञानदृष्टि सही हो हमारा बारबार उपयोग इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें लगे जो कि सहज अविकारी है, स्वत सिद्ध है। जो भी स्वरूप हो उसकी रुचि जगे तो इसे सर्वसिद्धि है। यह ही धर्मका पात्र है, समझ, विवेक कर। अपनेको अपनी ओर ले जा, आत्मस्वरूपमें दृष्टि खचित करके शुद्ध आनन्दसे तृप्त हो ले, क्यों असार अहित इन्द्रजालवत् इन्द्रियज विषय सुखोंकी ओर दृष्टि देता है। अरे इन सुखोंको दुःख मानना चाहिए और इनमें पछतावा होना चाहिए कि मेरी कुबुद्धि क्यों हो रही है कि मैं आत्मस्वरूपके दर्शन छोड़कर इन विषयसुखोंमे लग रहा हू। यही परम उपेक्षा सयम है। विकारोंकी उपेक्षा करके स्वभावका ही अवलोकन कर उसमें ही तृप्त रहना चाहिए। हे! साधु तुझे यही करने योग्य है।

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ॥१६२॥

कष्टका हेतु— जीव तो स्वयं आनन्दमय है, इसके स्वरूपमें क्लेश का नाम नहीं है। इसका स्वरूप एक शुद्ध प्रतिभासात्मक है। प्रतिभास किया जाय इस काममें कहां कष्ट है? लेकिन कर्म उपाधिका सम्पर्क पाकर इस जीवमें अनेक कष्ट उत्पन्न हुए हैं। तब यों कहना चाहिए कि ये कर्म जीवोंको नाना प्रकारके कष्ट देते हैं। यद्यपि घटना यह है कि कर्मोंके उदय तो निमित्त मात्र हैं, और उस कालमें यह जीव अपनी कल्पनाओंसे अपनेको दुःखी बनाया करता है। इस ही मर्ममें सीधे शब्दोंमें व्यवहारमें यों कहा जाता है कि कर्म जीवको कष्ट देते हैं।

निर्धनता ज्ञानीको कष्टका असाधन व अज्ञानीको कष्टका साधन—अब यहां पर यह वर्णन करते हैं, देखिये कि कर्म किस प्रकारका कष्ट दिया करते हैं? जितने भी कष्ट हैं वे सब संक्षेपमें कहे जायें तो दो भागों में रख लो—एक तो निर्धनता और एक मरण। जीव भी इन दोनों बातों से बहुत घबड़ाते हैं। न कोई निर्धनता पसंद करता है और न कोई मरण पसंद करता है, किन्तु जिन पुरुषोंने निर्धनताको ही धन मान लिया हो। निर्धनताका ही आदर हो और मृत्युको ही जीवन मान लिया हो ऐसे ज्ञान चक्षु वाले ज्ञानी संतोंका अब कर्म क्या करेंगे? जो मोह न करते हों, ज्ञान नेत्रसे पदार्थोंका यथार्थस्वरूप निरखते हों उनके लिए धन क्या चीज है? निर्धनता ही धन है, ऐसा जानकर वे ज्ञानी धनका त्याग कर देते हैं। केवल एक तन है धन वैभवसे वे रहित हैं। यही तो निर्धनताका रूप है। जिनके आशा लगी है वे निर्धनतामें दुःखी होते हैं और निर्धनताको हेय-दृष्टिमें वे देखते हैं, किन्तु जिन्होंने ज्ञानप्रकाश पाया है ऐसे ज्ञानी संतजन निर्धनताका आदर करते हैं। जिन्होंने निर्धनताको ही धन बना लिया ऐसे ज्ञानी मुनि सन्तजनोंका अब कर्म क्या करेंगे?

मरण ज्ञानीको कष्टका असाधन व ज्ञानीको कष्टका साधन—जैसे बहुत से जीव धनके होनेसे अपनेको सुखी मानते हैं ऐसे ही ये ज्ञानी संत निर्ग्रन्थपना होनेमें, निर्धन होनेमें अपनेको सुखी मानते हैं। यही बात मरणके सम्बंधमें है। जैसे संसारी प्राणी बहिरात्माजन प्राणोंके धारण करनेसे अपनेको सुखी मानते हैं ऐसे ही ये मुनि इन्द्रिय आदिक प्राणोंके छूटनेसे अपनेको सुखी मानते हैं। मुनिजनोंका प्रोग्राम ही एक यही है कि मेरे प्राण सदाके लिए छूट जायें, मुझे न चाहिये ये प्राण। मेरा जीवन सदा के लिए छूट जाय। मुझे न चाहिए जीवन, मुझे न चाहिए जन्म। तो जिन्होंने मृत्युको ही जीवन मान लिया उनका अब कर्म क्या करेंगे? कर्मों

का दुष्प्रभाव प्रधानतया इन दो बातों पर है– निर्धनता हो जाना और मरण हो जाना, पर जो निर्धनतामें ही सुख मानते हैं और जीवन न रहने में ही शान्ति मानते हैं कर्म उनका क्या करेंगे ?

दृष्टिपरिवर्तन––यों इस श्लोकमें यह शिक्षा दी है कि दुःखोंसे छूटना चाहते हो तो अपनी दृष्टि बदल लो। अब तक धन धनको सर्वस्व मानने क परिणाम रहा था तो अब अकिञ्चन्य पर विविक्त शुद्ध स्वरूपमें तू अपना हित मान ले। अब तक प्राणोंमें प्रेम करके प्राणोंके धारणसे अपने को सुखी मानता था तो अब इन इन्द्रिय आदिक प्राणोंको अपना विघातक जानकर इन प्राणोंसे सदाके लिए छूट जायें ऐसी स्थितिमें अपनेको सुखी मान।

जीविताशा धनाशा च येषां तेषा विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥१६३॥

आशावान् व आशापरिहारीमें अन्तर—जिनके जीनेकी आशा है और धनकी आशा लगी है उनके लिए ही विधि विधि है, कर्म कर्म है, किन्तु जिनको आशा नष्ट हो गयी है उनका कर्म क्या करेंगे ? कुछ नहीं कर सकते हैं। विधि नाम है कर्मका। अज्ञानी जिस पर्यायको पाकर जीना है ते हैं और धन चाहते हैं उनके लिए तो कर्म कष्टका निमित्त बन जाने में समर्थ हैं, यह ही जीव कर्मोंसे भय खाता है। कहीं हमारा मरण न हो जाय, हमारी गरीबी न आ जाय, ऐसी आशा रखनेसे कर्म उनको दुःखी करते हैं, किन्तु जिनको केवल एक निराशताकी ही आशा लगी है अर्थात् मेरे आशा न जगे ऐसी जो आशा नष्ट हो गयी है वे प्राप्त हुए धन वैभव को भी त्यागकर निर्धनतामें प्रसन्न रहते हैं अर्थात् उस दैगम्बरी दीक्षा को धारण करके आत्मविश्रामसे तृप्त रहा करते हैं ये ज्ञानी सत कर्मोंसे डरते नहीं हैं। मरण तो हो जाय, पर्याय छूटती है तो छूटे, निर्धनता आती है तो यह तो निराकुलताका कारण है, निर्धनता बुरी चीज नहीं है पर अन्दरसे इच्छा धनकी लगा रक्खी हो और निर्धनता हो तब दुःख। सो अर्थ यह निकला कि आशा ही दुःख है। जो आशाका परित्याग करके शुद्ध निजस्वरूपको ध्याते हैं, जिनका मोह नष्ट हो गया है अब उनको कौन दुःखी करनेमें समर्थ है ?

वास्तविक वैभव––भैया ! अपने सहज स्वरूपका लगाव ही वास्तविक वैभव है। यह जगत इन्द्रजाल है, मायारूप है, विनश्वर है, इसमें जो प्रीति करेगा उसे धोखा ही धोखा मिलेगा, निराकुलता नहीं मिल सकती इस कारण अपने जीवनमें यह प्रोग्राम रक्खें कि मुझे आशाका परित्याग करके अपने सहजस्वरूपका अनुभव करना है। प्रश्न उठे कि

बताओ अब तुम्हें क्या करना है ? तो आन्तरिक उत्तर यह आये कि मुझे सबसे अलग होकर केवल ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव करना है।

गृहस्थके तर्पक विचार--बहुत आरम्भ बढ़ानेसे कितने ही कामकाज खोल लेनेसे, कितनी ही व्यवस्थायें बनानेसे धन आता है यह बात नहीं है। उदय अनुकूल है, पुण्यका उदय है तो आप कोई एक भी काम करें उसमें भी वही प्राप्ति होगी और आप पचासों काम फैलायें तो भी उतनी ही प्राप्ति होगी जितनी कि उदयमें है। पचासों जगह चित्त है, व्यवस्थायें बना रहे हैं, कहीं धन हर गया, कहीं कोई लूट ले गया, अनेक तरहकी बातें होती हैं। कहाँ कहाँकी संभाल करें, चित्त व्यग्र रहता है। और मिलनेका उदय ही है, जितना उदयमें है उतना मिलेगा। कहीं हाथ पैर पसारनेसे और भारी चित्तमें विकल्प मचानेसे वैभव संचित नहीं हो जाता अथवा इन विकल्पोंसे क्या प्रयोजन ? ज्ञानी गृहस्थका तो एक ही निर्णय होता है कि जो कुछ मिला है, ठीक है, जितना उदयमें है आया है ठीक है, हममें तो वह कला है कि उस ही आयमें विभाग बनाकर कुछ धर्ममें खर्च करके कुछ अपने कुटुम्बके पोषणमें खर्च करके उतनेमें ही तृप्त हो लेंगे।

शान्तिका साधक गृहस्थ--अब आप बतलावो कौनसा कष्ट है ? एक तो ऐसा व्यक्ति है कि पड़ोसियोंकी बात देख देखकर अपने चित्तमें और अधिक आवश्यकताएँ बढ़ा बढ़ाकर और उनकी पूर्तिमें व्यग्र रहे और एक ऐसा व्यक्ति है कि जो कुछ उदयानुसार मिलता है उसमें ही विभाग बनाकर जो पालन पोषणके लिए मिला है उतनेमें ही निपटारा कर ले और अपनी जिन्दगी धर्मके लिए मानकर स्वाध्यायमें, प्रभुभक्तिमें, इन धार्मिक कार्योंमें अपने आपको लगा ले, ऐसे इन दो व्यक्तियोंमें आप बतलावो कौनसा व्यक्ति निराकुल और विवेकी माना जायगा ? पड़ोसियोंको देखकर अपनी आवश्यकतायें बढ़ाये और उनकी पूर्तिके लिये यथा तथा उद्यम करे। यदि इसमें शान्ति नहीं है। होगा क्या ? जो होना है वह होगा। जो उदयाधीन है वही होता है। कितनाभी कुछ करो, नहीं रहना है, कुछ करो, नहीं रहना है कुछ तो अचानक ही ऐसी घटना घट जायगी कि लो यों ही १० हजार चले गये। क्यों किसी परतत्त्वकी चिन्ता करते हो ?

आत्मविवेक--कैसे यह वैभव चला जाता है, इसे कोई नहीं जानता। और जब आना होता है उदयमें तो कहाँसे आता है उसे भी सही-सही कोई नहीं जानता। फिर चिन्ता काहेकी ? तब एक बात साफ हो गयी कि धन वैभव आता है उदयानुकूल। और जीवनमें काम पड़ा है यह कि किसी भी प्रकार इस जीवनका निर्वाह कर लो और जीवनको धर्मके लिए ही

लगावो। अब चिन्ता किस बातकी रही ? जो मिल गया उस ही में सब निपटारा कर लो। गुजारा करना यह गृहस्थका धर्म है, इसे निभाइये। अत्यन्त गरीबोंसे मामूली रहनसहनमें यदि जीवन गुजर रहा है तो कौन सा इसमें नुकसान हो गया ? प्राण तो रह रहे हैं। बडे-बडे धनी भी बहुत ठाठसे रहते हैं तो उन्हाने कौनसा लाभ लूट लिया। जैसे प्राण उनके भी रह रहे हैं वैसे ही प्राण इस गरीबके भी रह रहे हैं। कौनसी गरीबीमें हानि हो गयी ? हाँ हानि यहां है कि आत्माकी सुध न लें, कोई अपने स्वरूपमें झुकनेका यत्न न करे, कोई सम्यक्त्व न पा सके तो वह हानिमे है। निर्धनतासे हानि लाभका लेखा न लगेगा।

परसे भला कहलवानेका व्यामोह छोडनेका अनुरोध—भैया यदि इस बातका सकोच हो कि दूसरे लोग क्या कहेंगे कि इनकी स्थिति बड़ी दयनीय है, बड़ी गरीबोकी है। अच्छा तो लोग मुझे भला ही भला कहें इसके लिए भी कुछ उद्यम करके देख लो। हो सकेगा क्या ऐसा कि लोग मुझे भला ही भला कहें ? क्या करेंगे आप ? आप मौनसे बैठ जायेंगे तो लोग यह कहेंगे कि यह बड़ा अभिमानी है, किसीसे बोलता ही नहीं है। आप कुछ ज्यादा बोलेंगे तो लोग यह कहेंगे कि यह बड़ा बकवाद करने वाला है। अब और बतावो क्या करें। आप खूब खर्च करेंगे तो लोग कहेंगे कि इसे मुफ्तका तो मिला है, जैसा चाहे खर्च करता है, विवेकसे खर्च करें, सात्त्विक रहनसहनसे आप रहें तो लोग यह कहेंगे कि देखो यह बड़ा कजूस है। प्रत्येक स्थितिमें कुछ लोग भला कह सकेंगे तो कुछ लोग बुरा भी कह सकेंगे। और तो जाने दो—भगवानको भी सभी लोग भला नहीं कह सके। हम आप इन मोही, अज्ञानी, पापी, जन्म मरणकी परम्परामें डूबे हुए कुछ प्राणियोसे अपनेको अच्छा कहलवाना चाहें, इतनी बातके लिए एक संकोच बसा रक्खें और हम अपने सुनिश्चित मार्ग में निःशक होकर नहीं लगें, यह कौनसी बुद्धिमानी है ? आत्माको ये कर्म दुःखका कारण तभी तक है जब तक इसके परपदार्थविषयक आशा लगी रहती है। जिनके आशा नहीं रही उनको विधि सता नहीं सकती।

परा कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयो।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥१६४॥

स्तुत्य और निन्द्य—लोकमें स्तुति भी किन्हींकी हुआ करती है और निन्दा भी किन्हींकी हुआ करती है। सबसे उत्कृष्ट स्तुति किए जानेके योग्य पुरुष कौन है और सबसे अधिक निन्दा किए जानेके योग्य पुरुष कौन है ? ये दो बातें सामने रक्खी गयी हैं। उत्तर यह है कि जो तपश्चरण के लिए अपने साम्राज्यको, चक्रवर्तित्वको भी छोड़ देता है वह तो स्तुतिके

योग्य है और जो विषयोंकी आशासे तपस्याको छोड़ देता है वह अधिकाधिक निन्दाके योग्य है।

निन्दा और निर्दोषताके उद्यममें अन्तर--कोई कहे कि निन्दा तो किसी की करनी ही न चाहिए। तुम तो बड़ी अधिक निन्दाकी बात बता रहे हो। अरे भाई, ईर्ष्यासे, द्वेषसे दूसरेके बिगाड़ करनेके भावसे, अपमानित करनेकी दृष्टिसे जनतामें दोष प्रकट करना यह तो योग्य नहीं है। इसे तो निन्दा समझिये, जो कि त्यागनेके योग्य है, किन्तु जो अच्छे आचरणमें लानेके लिए, सुधार करनेके लिए दोष प्रकट किए जाते हैं वह तो प्रवृत्ति निन्दाके योग्य नहीं। ईर्ष्या द्वेषसे निन्दा करे तो वह निन्दाके योग्य है। वह तो पापमें शामिल है। अपने भाव पवित्र रखकर कोई अपने बच्चेको मार भी दे तो वह बच्चा बुरा नहीं मानता बल्कि खुश होता है, और कोई बुरा आशय रखकर, द्वेषका अभिप्राय रखकर एक आंखें ही तानकर देख ले तो वह बालक बुरा मानेगा। ऐसे ही समझिये कि सुधार करनेका आशय रखकर उसके दोष बताये जायें किसी भी प्रकारसे, नाम लेकर नहीं, किसी भी ढगसे अथवा केवल उस ही को बताया जाय उसमें बुराई नहीं है और द्वेषवश होकर उसकी प्रतिष्ठा गिरानेके लिए अपना महत्त्व स्थापित करानेके लिए जो निन्दा की जाती है वह निन्दा करने योग्य नहीं है।

सत्य और निन्द्यके बोधसे आत्मशिक्षण—इस श्लोकमें यह बताया है कि सर्वोत्कृष्ट स्तुतिके योग्य तो वह पुरुष है जो तपश्चरणके लिए साम्राज्य को छोड़ देता है और अधिकाधिक निन्दाके योग्य वह है जो एक बार साम्राज्य छोड़ कर तपश्चरणको अङ्गीकार कर चुका, अब विषयोंकी आशा के वश होकर फिर तपश्चरणको छोड़ रहा है, निन्दाके योग्य वह है। हम अपने स्वरूपको निहारें और उस स्वरूपमें मग्न होनेका यत्न करें। हमारे लिए हम ही शरण हैं ऐसा दृढ़ निर्णय बनायें।

> त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं,
> सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम्।
> इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं,
> पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥१६५॥

अनद्भुत और अद्भुत कार्य--चक्रवर्ती आदिक महापुरुष तपश्चरण के वास्ते यदि साम्राज्य और चक्रवर्तित्वको छोड़ता है तो छोड़े, क्योंकि तप के फलमें अनुपम आत्मीय शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है। यह तो योग्य ही बात है, उन्नतिकी ही बात है। इसमें अचरजकी कोई बात नहीं है। बड़े-बड़े महापुरुष राजा महाराजा बड़े वैभवको त्यागकर तपश्चरण करते

हैं, इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह कार्य आश्चर्य करने वाला नहीं, विधि विधानका है, योग्य है, किन्तु आश्चर्यकी बात केवल एक यह ही है कि पहिले तो सुबुद्धि बनकर, ज्ञानी बनकर, विवेकी बनकर विषयोंको छोड़ा, अब सुबुद्धि होकर भी विषयविष भोगनेके अर्थ तपश्चरणको भी त्यागता है, यह है आश्चर्यकी बात।

लोकनीतिविरुद्धता—इन लौकिक पुरुषोंमें भी ऐसा देखा जाता है कि बड़े सुखकी प्राप्तिके लिए लोग छोटे सुखको छोड़ देते हैं। बड़ी निधि केलिए छोटे नफा वाली चीजको छोड़ देते हैं, इसमें किसीको आश्चर्य लगा क्या ? नहीं लगा। किन्तु देखिये—जो सर्वप्रकार दुःखमयी है ऐसे इस विषको त्यागकर अर्थात् हलाहलको त्यागकर फिर उस ही विषको खानेके लिए उद्यम करे, बड़े मिष्ट पदार्थोंको छोड़ दे तो इसमें आप आश्चर्य करेंगे ना। ऐसे ही मुक्तिके वैराग्यके सुखके लिए किसीने साम्राज्य और चक्रवर्तित्वका वैभव छोड़ दिया तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो इस बातमें है कि जो सर्वप्रकार दुःख देने वाले हैं ऐसे विषयोंको पहिले तो छोड़ दिया, विवेकी हुआ फिर उनके ही सेवनके अर्थ त्रिलोक पूज्य जो मुनिपद तपश्चरण है उसे भी छोड़ दे तो यह आश्चर्यकी बात है।

> शय्यातलादपि तु कोऽपि भयं प्रपातात्,
> तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडां।
> चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गात्,
> धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥१६६॥

व्यामोहमें तुङ्गस्थानसे भी पतनमें निर्लज्जता—कोई झूला हो, पालना हो या बहुत ऊँचा पलंग हो उसपर बालक पड़ा हो, लेटा हो, खेलता हो, वह बालक उस पालनेके किनारे तक तो आ जाता है, उस पलंगकी पाट तक आ तो जाता है मगर उस परसे नीचे गिरनेको डरता है। वह उतने ऊँचेसे गिरना नहीं चाहता। उस नासमझ बालकको भी यह समझ है कि यदि मैं गिरा तो उसकी पीड़ा मुझे ही भोगनी पड़ेगी। वह बेचारा नन्हा बालक भी उतने ऊँचे स्थानसे गिरनेके लिए डरता है, पर यह बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धिमान् पुरुष तीनों लोकमें श्रेष्ठ उत्कृष्ट मुनिपद धारण करके भी नीचे गिर पड़नेमें उन्हें लाज नहीं आती। यद्यपि बालक विचार-रहित है फिर भी ज्ञान उसके भी है। थोड़ीसी ऊँची शैयासे गिरनेमें वह भय खाता है, इतना विचार उस बालकके भी है, जो इतने ऊपरसे गिरेंगे तो उसकी पीड़ा हमको ही भोगनी पड़ेगी। लेकिन यह साधु लिङ्गका धारी, यह तो बड़ा विचारवान है ना, विवेकी है और तपश्चरण एक ऊँची पदवी

पर विराजमान है, जो तीनों लोकके शिखरके समान ऊँचा माना जाता है और तीनों लोकके जीव जिसे पूज्य मानते हैं, इतने ऊँचे पदसे भ्रष्ट होता हुआ साधु भय नहीं करता है। इतना भी नहीं सोचता कि भ्रष्ट होने पर मुझे इस लोकमें हास्यादिककी पीड़ा होगी और परलोकमें बहुत काल पर्यन्त नरक निगोद आदिक दुःख सहने पड़ेंगे। यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

रोनेका साधन क्यों लगाना—एक साधु महाराज थे जंगलमें, वहाँसे एक राजा निकला। गर्मीके दिन थे। साधुकी परेशानीको देखकर राजा बोला—महाराज हमें इजाजत दो तो हम आपके जूते बनवा दें। बड़ी गर्मी के दिन हैं, आपके पैर जलते होंगे। तो साधु बोला—अच्छा बनवा देना जूते। पर एक बात तो बतावो कि पैरोंकी गर्मीका तो इलाज हो गया, अब ऊपरकी गर्मीका क्या करेंगे? .... महाराज बढ़िया छतरी दे देंगे। .... और, लपटोंका क्या इलाज करेंगे? .... महाराज कपड़े बनवा देंगे। .... फिर हमें कोई तिष्ट तिष्ट तो न कहेगा, भोजनका क्या हाल होगा? .... महाराज ५ गाँव लगा देंगे। . रोटी कौन बनावेगा? .. महाराज शादी करा देंगे। फिर तुम आरामसे रहना। ... फिर बच्चे बच्ची भी होंगे, उनका खर्च कैसे चलेगा? .... महाराज ५ गाँव और लगा देंगे। ... बच्चा बच्चीकी शादीमें बहुत खर्च भी तो होगा? .... उसके लिए एक जागीर और लगा देंगे। और उनमेंसे कोई लड़का या लड़की मरेगा तो रोना भी तो पड़ेगा? .... तो राजा बोला—महाराज, रोना तो तुमको ही पड़ेगा, हम तो रोने न आ सकेंगे। जिसको मोह होगा, जिसको सम्बंध होगा, रोवेगा तो वह ही। तो साधु बोला हमें ऐसे जूते न चाहिएँ जिनके लगानेके बाद हमे रोने तककी नौबत आ जाय।

लोकनिन्द्यता—तो यह साधु इतने ऊँचे पदपर पहुचकर फिर विषय साधावोंके कारण पदभ्रष्ट होता है, उसे अपनी दुर्गतिका भय नहीं है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। देखो लोकमें ऊँचा पद होनेके बाद किसी कारण परवश नीचा पद हो जाय तो इतनी लज्जा हो जाती है कि वह अपना आत्मघात भी करना विचार लेता है। किन्तु यह इतना भ्रष्ट हुआ है कि मुनिपद जैसा उच्चपद पाकर स्वच्छन्दतासे नीचा हो रहा है। लोकमें तो किसी पराधीनतासे भी नीचा कार्य करना पड़े तो उसको लाज आती है। और यह अपने ही मनसे स्वच्छन्द होकर भ्रष्ट हो, ऐसा स्वयं कार्य करे तो भी उसे लाज नहीं आती। इस छंदमें साधुजनोंको ग्रन्थरचयिताने यों समझाया है कि भ्रष्ट होनेसे तू लोक रीतिका लोपकर निन्दाका स्थान बन

जायगा, इसलिए भी तू अपने विवेकसे अपने आनन्दका काम कर।

विशुद्ध्यति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोऽपरः ॥१६७॥

अधमता—देखो तपस्या द्वारा तो किया हुआ सारा दुराचार भी दूर कर दिया जाता है। जिस तपस्याके द्वारा समस्त पाप नष्ट किये जा सकते हैं उस तपश्चरणको भी कोई मलिन कर देता है, तपको भी मैला कर देता है तो यह खेदकी बात है। जैसे जलके द्वारा मल धोया जाता है। किसी भी प्रकारका मल लग जाय तो उसे जलसे ही तो धोते हैं। कोई पुरुष उस जलमें ही मल मिला दे जिस जलसे मल दूर किया जाता है तो उसे आप कितना अधम कहेंगे? लोग तो बात-बातमें जलमल कह देते हैं। कहो साहब जलमल लायें पीनेके लिए? अरे भाई जल तो ठीक है पर मल लानेके लिए क्यों कह रहे हो? बोलीमें ही लोग जलमें मल मिला देते हैं। तो जलमें यदि मल मिल गया तो वह जलमल धोनेका साधन फिर कहाँ रहा? इस प्रकार तपस्याके द्वारा पाप दूर हुआ करते हैं। कोई पुरुष पापी बनकर उस तपस्याको भी मलिन कर दे तब उसका यह अति अधम कार्य है।

वज्रलेप—जो पाप करे वह तो नीच है ही इसे तो सब जग कहता है, पर जो पापको नष्ट करने वाली तपस्याको भी मलिन कर दे वह अधिक नीच है। लोग कहते भी हैं अन्य स्थानोंमें किए हुए पाप धर्मधाममें नष्ट हो जाते हैं और कोई धर्मधाममें ही पाप करे तो उसके नाशका फिर उपाय क्या रहा? वह पाप तो वज्रलेप हो जायगा। गृहस्थावस्थामें जो पाप बनते हैं उन पापोंको मुनिपद धारण करके दूर किया जाता है। अब मुनिपदमें ही कोई कुशील, झूठ आदि विकारोंसे पाप करे तो वह वज्रलेप होगा। इस कारण हे साधुजनों, साधुलिङ्गमें दोष लगाना योग्य नहीं है।

लोकयुग—यह चर्चा साधुवोंके लिए है। और साधुवोंको समझाया जा रहा है उसमें हम अपने लिए भी शिक्षा लें। यद्यपि बात बहुत टेढ़ी पड़ेगी आजकल, पर जहाँ न्यायकी प्रवृत्ति नहीं है। अन्यायका परित्याग नहीं है, चित्तमें यहाँ वहाँकी बुरी बातोंका विचार है, बहुतसे झूठे लेख अनेक और-और बातें भी की जाती हैं। ऐसे निरन्तर चित्त चलते रहने वाले वातावरणमें आत्मानुभवकी पात्रता कैसे बने? यह एक समस्या है। अथवा समस्या है ही नहीं। आत्मानुभव करती हो दुनिया तब तो समस्या होगी। एक बालक पढ़नेमें होशियार नहीं था। स्कूलसे आया और अपने पिताजीसे बोला—पिताजी आज हमारे सिर्फ दो सवाल गलत निकले।

... बेटा शाबास सवाल कितने बोले गये थे ? .... १० सवाल बोले गये थे। तो क्या तुम्हारे बाकी ८ सवाल सही निकले ? .... पिताजी ८ सवाल तो मैंने लगाये ही न थे। तो अब इस मनुष्यसमूहका धर्मकी बात करनेमें मन है ही नहीं, एक व्यापक दृष्टिसे देखो सारे जनसमूहको दृष्टिमें लेकर तो अब वहाँ आत्मानुभवकी चर्चा ही कहां है ? लेकिन विरले ही पुरुष कोई, जिन्हें भी आत्महितकी मनमें आयी हो उन्हें इस जमानेमें गरीबी का स्वागत करनेका साहस कर लेना चाहिए। और फिर न्यायवृत्तिसे रहने पर भी जो कुछ समागम यदि आता भी है, विशेष लाभ होता भी है तो उससे कुछ नुकसान नहीं है। आने दो, पर जिसका चित्त चारों ओर किन्हीं बातोंमें उलझा हुआ हो तो उसे ज्ञानानुभूतिकी पात्रता कैसे होगी ?

अपना ध्यान—हम आप सबको भी इस सम्बंधमें कुछ विचारना चाहिए। जो आत्मानुभूतिका क्षण बीते वह काम तो समझिये कि मैंने अपने लिए कुछ किया और बाकी धन बढाना, कुटुम्बको सुखी रखना, देशका उपकार करना, परपदार्थोंकी ओर उपयोग लगाकर जितने जो कुछ भी कार्य होते हैं उन्हें यों समझिये कि परके लिए किया। और जो आत्मानुभूतिका कार्य बने, निर्विकल्प ज्ञानस्वभावकी दृष्टिका काम बने तो समझिये कि जीवनमें अपने लिए भी कुछ किया। परिजनको धन वैभव आदिको महत्त्व देते रहना और चित्तमें अहंकार बसाये रहना, मैं इतना शक्तिशाली हू आदिक विकल्प बसाये रहना इससे सिद्धि कुछ नहीं है, बरबादी ही है और अपने इस अकिञ्चन ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखो और यह दृढ निर्णय बना लो कि मेरे आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। मैं शाश्वत ज्ञानान्दस्वरूप हू ऐसा निर्णय बनाकर अपने आपमे विश्राम करें तो वहाँ हमने अपने लिए कुछ किया।

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु,
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।
पीत्वामृत यदि वमति विसृष्टपुण्यः,
सम्प्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजति ॥१६८॥

विस्मापक दो कार्य—इस जगतमे सैकड़ों कौतुक हुआ करते हैं परन्तु आश्चर्य करने वाले कौतुक यहाँ ऐसे विकट दो ही हैं। कौतुक उनको कहते हैं जिनको देखने समझनेकी उत्सुकता जगे। कौतुक किसे प्रिय नहीं होता ? इष्ट हो उसे भी देखते अनिष्ट हो उसे भी देखते। सैकड़ों कौतुकोंमे ये दो कौतुक ही विस्मय करने वाले बड़े विकट हैं। वे कौनसे हैं ? एक तो यह कि कोई अमृतको पीकर फिर कोई औषधि खाकर उसका

वमन कर डाले, अमृतको अपने उदरमें न रखना चाहे। उस अमृतका वमन कर दे तो उसे आश्चर्य मानते हैं कि नहीं? लौकिक दृष्टान्त है यह। तो एक तो यह विस्मयकी चीज है। दूसरा विस्मय यह है कि संयम निधिको प्राप्त करके फिर उसका वमन कर दे, उस निधिको छोड़ दे, इसमें आश्चर्य लगता है कि नहीं? ये दो कौतुक महान् आश्चर्य करने वाले हैं।

अद्भुत कौतुक--जहाँ असम्भवसा कार्य भी कुछ होतासा भासे उसका ही नाम आश्चर्य है, और ऐसे ही कौतुक आश्चर्यको उत्पन्न करते हैं। सड़कपर, रास्तेमें, शहरमें किसी जगह कोई डुगडुगी बजाकर, बांसुरी बजाकर कुछ अनोखे खेल दिखाना चाहता हो, जिन खेलोंमें लोगोंको आश्चर्य हुआ करता है, जैसे रुपया गायब कर देना, एकके दो रुपये बना देना। किसीको बेहोश कर देना, किसीकी कपडेके भीतर गर्दन ऐसी मुड़ी हुई बता देना जिससे मालूम पडे कि अब इसका कधेसे कुछ सम्बंध ही नहीं रहा, इस प्रकारकी आश्चर्यजनक बातें जब लोग देखते हैं तो ऐसे अनेक कौतुकोंको देखकर बड़े-बड़े लोग भी १०-५ मिनटको तो ठहर ही जाते हैं। वे आश्चर्य करने वाले कौतुक हैं। पर सबसे अधिक कौतुक तो इन बातोंमें है। कोई बड़े भाग्यसे ऐसा अमृतत्याग कर ले जिसमें बुढ़ापा भी न आ सके ऐसे अमृतको पीकर फिर उसका वमन कर दे तो इसमें आश्चर्य है ना। इसी तरह कुछ काललब्धि आयी है सो ऐसा संयम धारण करनेको मिला जिससे जन्म मरण आदिकके दु खका नाश हो जाता है। ऐसी संयमनिधिको पाकर भी उसे छोड़ दे तो एक यह आश्चर्य है।

साधुशिक्षण—इस छंदमें कहीं दो आश्चर्योंको नहीं बताना है। एक ही आश्चर्य बताना है इसलिए अमृत वाली बात तो दृष्टान्तमें मान लो और कही जाने वाली बात एक यह संयम निधिकी है। तो ऐसा कार्य तो विवेकी: पुरुष नहीं किया करते हैं। हे साधु महाराज, भाग्यसे तुमने यह ज्ञानसम्यक्त्व और संयमनिधान पाया है, इसे प्राप्त करके इसका निर्वाह करो। उद्योतन, उद्यवन, आराधन, साधन और निर्वहण-इन ५ प्रकारके आराधनोंको ग्रहण किए हुए चारित्रकी संभाल करो। संयमकी संभालमें सम्यक्त्वकी संभाल तो गर्भित ही है, अर्थ यह लेना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी संभाल करें। इस रत्नत्रयकी संभालमें ही अपना उद्धार है।

इह विनिहितबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो—
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्यपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः,

कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥१६६॥

साधु धर्मकेनिर्दोषपालनका अनुरोध—मुनिव्रतमें बाह्य अपराध लगने का तो कोई साधन नहीं है, क्योंकि आरम्भ आदि पापकर्मोंका इस मुनिने त्याग किया है, परिग्रहका भी त्याग किया है। इससे हे मुने! बाह्यमें तो तुझे अपराध लगनेका कोई अवसर नहीं है। हे साधो! तुझे जो अपराध लग सकते हैं वे भोजन करने सोने, चलने, ठहरने आदि कार्योंमे प्रमाद अथवा राग विकार करनेके अपराध हो सकते हैं। सो उन क्रियावोंमें सावधान होकर तू अपनी रक्षा करले फिर कल्याण अवश्यभावी है।

साधुभेषमे परिस्थिति ऐसी है कि जहाँ किसी प्रकारके अन्याय अथवा पाप नहीं किये जा सकते। कैसे करे? दिगम्बरी दीक्षामें आरम्भ और परिग्रहका सम्पर्क नहीं है सो अन्य पापका कोई अवसर नहीं है। यहाँ तो खुदकी पीड़ाके लिए खुदके पतनके लिए, खुदके जो भोजन आदिक कार्य हैं उनमें दोष लगानेका काम रह गया है, पर दूसरे जीवोंको यह साधु पीड़ा उत्पन्न कर सके, ऐसा कोई साधन नहीं रहा है। साधुके मात्र तीन उपकरण कहे गये हैं शास्त्र, पिछी और कमण्डल। अब बतलावो क्या इन उपकरणोंके द्वारा दूसरेको वे पीड़ा कर सकेंगे? नहीं कर सकते। उनकी मुद्रा ही ऐसी है कि लोग देखकर अभयको प्राप्त होते हैं। कोई त्रिशूल लिए हुए हो, चिमटा लिए हुए तो लोग उससे डरें। कहीं इसे गुस्सा आ जाय और चिमटा ही मार दे, त्रिशूल भी मार दे। ये तो साधन उस साधुके पास रहे नहीं, साथ ही कोई विडरूप भी उनके नहीं। जैसे बड़ी गटरमाला पहिन लें, भस्म लगा लें, जटायें रखा ले। कुछ भयानकसा रूप बन जाय यह भी दशा नहीं है। इस कारण भी मनुष्योंको उनसे भय नहीं लगता। सो बाह्यमे कोई अनर्थ कर नहीं सकते ये साधु। अपने पतनके लिए अपने आपमे भोजनकी वृद्धि करें। सोने, उठने, बैठनेमें सावधानी न करें, अन्य मनके विकार करें आदिक अनेक बातें हो सकती हैं। सो हे साधो! अब इस अपनी असावधानीका दोष और मिटा ले, फिर तू अन्तः और बाह्य दोनों प्रकारसे पवित्र है।

साधुपदमे निर्दोषताका अवसर—यहाँ कोई यह शका करने लगे कि बाह्यमें दूसरोंको कसे पीडा न होगी। जब दो एक मोटर भी साथमें रखे, इतजाम करें, ड्राइवर वगैरहको डाटना भी पड़े, ठीक समय पर व्यवस्था बनाना है। कुछ गड़बड़ हो गयी तो वहा भी उनकी व्यवस्था करनी है। ऐसा करते हुएमें दूसरों पर कैसे न आघात पहुंचेगा? ऐसी शंका न कीजिए क्योंकि वह तो साधुधर्म ही नहीं है। साधुधर्म तो निष्परिग्रहतामें और

निरारम्भपनेमें हैं, सो वहां दूसरे जीवोंको बाधाका अवसर नहीं है। तो इतना बड़ा तो त्याग कर दिया साधुने, जो सबसे नहीं किया जा सकता। इतनी उदारता, इतना परित्याग करनेके बाद अब केवल अपने मनकी बात जो केवल अपने मनसे, विचारसे ही अपराध लग जाया करता है। जिसमें किसी दूसरेकी आधीनता नहीं है कि क्या करें? हम परवश हैं इसलिए दोष लगाना पड़ता है, ऐसी कोई पराधीनता भी नहीं है। उन अपराधोंका और त्याग कर दें फिर तो साधु निर्दोष शान्ति पथपर विहार करेगा। साधु को जो भी दोष लग सकते हैं वे केवल अपने ही चिन्तनके दोषसे लगे हैं, अरे भोजन करते हुएमें आसक्ति नहीं करें, जैसा मिला तैसा ही अपनी उदरपूर्तिके अर्थ, जीवन चलानेके अर्थ जो कि संयमसाधनमें सहायक है कर लिया, अब वहाँ सोचे कि ठीक मिले, ऐसा मिले आदिक, यह सब अपनी स्वच्छन्दताका ही तो दोष है कि पराधीनताका दोष है? अब उस स्वच्छन्दताका ही तो दोष है कि पराधीनताका दोष है? अब उस स्वच्छ-न्दताके दोषोंको हे साधो! तू दूर कर।

साधुधर्मके अन्तरङ्ग और बहिरंग शत्रुपर राजाका दृष्टान्त—जैसे राजाओं के शत्रु दो प्रकारके होते हैं—एक बहिरङ्ग शत्रु और एक अन्तरङ्ग शत्रु। जो दूसरे राजा लोग हैं वे बहिरङ्ग शत्रु हो सकते हैं। कोई राजा चढ़ाई कर दे अथवा प्रायः बनती ही नहीं है एक राजाकी दूसरेसे, वह बहिरङ्ग शत्रु है, किन्तु अन्तरङ्ग शत्रु वे हैं जो अपनी गृहव्यवस्थाके साधक सेवक-जन हैं, रसोइया है, या चपरासी है, रातका पहरा देने वाला है, द्वारपाल है, ये राजाके अन्तरङ्ग शत्रु बन सकते हैं। कदाचित् रसोइया भोजनमें विष मिला दे और उस भोजनको परोस दे तो राजाका प्राणान्त हो जायगा ना? तो ये सेवक जन उनके अन्तरङ्ग शत्रु हैं। जितना खतरा राजाको बहिरङ्ग शत्रुसे नहीं, जितना खतरा अन्तरङ्ग शत्रुसे है। बहिरङ्ग शत्रुकी तोस्पष्ट थोड़ी बात है, जब सामने आये, आक्रमण करे तो उसका मुका-बला करे। वह तो एक आमने सामने की बात है, पर ये धोखा देनेकी बातें जो कि अन्तरङ्ग शत्रुके द्वारा की जा सकती हैं इनका तो पता भी नहीं पड़ता। बहिरङ्ग शत्रुका तो राजा विनाश करता है उसके राज्य भ्रष्ट होने का कारण तो अब नहीं रहा, पर भोजन आदिक क्रियाओंमें सावधान रहे तो अन्तरङ्ग शत्रुसे भी मृत्यु न पायगा, इस कारण अन्तरङ्ग शत्रुसे भी जैसे रक्षा हो, याने खानपान आदिक क्रियाओंमें सावधानीसे रहना राजा को योग्य है। कुछ समयसे पहले यह प्रथा थी कि कुछ लोग थालमें भोजन परोसने के बाद पासमें एक जलते कोयले पर थोड़ा थोड़ा भोजन डाल

देते थे, जिसे कहीं कहीं एक धर्मका रूप मान लिया है कि भोजनसे पहिले कुछ होमसा कर लेते हैं। चीजोंको जलते अगारेपर डालनेसे यह निर्विष भोजन है या विष मिला हुआ भोजन है, ऐसा मालूम हो जाता है। विषैले भोजनसे लपट उठती हैं। यों बड़े पुरुष भोजनका परिचय अग्निमें थोड़ी थोड़ी चीजें डालकर कर लेते थे। यह अन्तरङ्ग शत्रुसे सावधानी रखनेका उपाय था। प्रयोजन यह है कि जैसे राजाको बहिरङ्ग शत्रुसे अपनी रक्षा करनी योग्य है ऐसे ही अन्तरङ्ग शत्रुसे भी अपनी रक्षा करनी चाहिए।

साधुधर्मके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रु—इस दृष्टान्तके अनुसार प्रकृतमें भी बात देखिये, मुनियोंके शत्रु दो प्रकारके हैं-एक तो बहिरङ्ग शत्रु और एक अन्तरङ्गशत्रु। जो हिंसाका प्रकट रूप दिखना है ऐसा आरम्भ करना यह तो मुनिलिङ्गमें बाह्य शत्रु है। यहाँ शत्रुसे मतलब किसी अन्य मनुष्यकी बात नहीं कही जा रही है। मुनि आरम्भ करे, खेती करे अथवा कुछ व्यापार करे, कोई प्रकारका बंध करे तो यह साधुका बहिरङ्ग शत्रु है और खानपान आदिक क्रियावोंमें रागभाव रक्खे अथवा उठने बैठने आदिक क्रियायोंमें प्रमाद रक्खे तो यह मुनिका अन्तरङ्ग शत्रु है। सो देखिये कि साधुने बहिरङ्ग आरम्भ आदिकका तो त्याग कर दिया है इसलिए बाह्य शत्रुका भय नहीं है, किन्तु खानपान आदिक क्रियावोंमें प्रमादी बनकर उनमें सावधानी न बर्ते तो अन्तरङ्ग रागादिक भाव जगते हैं, उससे उसका विनाश होता है। यह अन्तरङ्ग शत्रु ही तो हुआ। साधु जब बहिरङ्ग शत्रुका विनाश कर देता, अब जो केवल अपने विचारों मात्र पर आधारित है ऐसे अन्तरङ्ग शत्रुका क्यों न विनाश करे ? मतलब यह है कि किसी भी कार्यमें रागादिक भाव करना साधुको योग्य नहीं है।

साधुसन्देशसे गृहस्थको शिक्षण—इस प्रकरणसे हम भी यह शिक्षा लें कि गृहस्थ जनोंको जिससे कुछ प्रयोजन ही नहीं तो न कोई आजीविका का काम निकलता और न कोई सुविधा या धर्मसाधनका काम निकलता फिर भी राग किया जाय, विरोध किया जाय, यह कार्य उचित नहीं है। हाँ आपकी आजीविकामें कोई विशेष बाधा डाले तो गृहस्थके विरोधीभाव जगना एक प्राकृतिक बात है। और उस पदमें ऐसा होता ही है, अथवा किसी धर्ममार्गमें कोई रोड़ा अटकाये तो उस धर्मप्रेमीको उसमें भी रोष आ सकता है, लेकिन जिन बातोंका न अपनी आजीविकासे सम्बध है और न कुछ धर्मपालनसे भी सम्बध है, व्यर्थ ही बहुत रोष किया जाय, व्यर्थकी बातोंमें विरोध करना, कलह करना, राग करना यह प्रमाद है।

असावधानी है, कषाय प्रकृत्ति है। अपने मनको ऐसा सावधान बनायें कि जितना अपने हितसे प्रयोजन हैं उतना तो हमारा जब विकल्प चल रहा है, विकल्प चला करे, किन्तु अप्रयोजक हमारे विकल्प न उठें, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए।

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते,
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुङ्गे, सम्यक्प्रततमतिमूले प्रति दिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटमयुम् ॥१७०॥

मनमर्कटकोयोग्य पदमें रमानेका अनुरोध—यह मन बंदर चंचल है। साहित्यमें मनको बन्दरकी उपमा दी जाती है। जैसे बन्दर एक दो मिनट भी शान्ति और धीरतासे बैठ नहीं सकता। कदाचित् वह हाथ पैर भी न हिलाये तो आखोंका मटकाना और मुँहका थोड़ा सा फड़काना यह तो मिटता नहीं है और हाथसे खुजाना, यहाँ वहाँ हिलाना यह तो होता ही रहता है। और प्रायः करके वह एक जगह बैठ भी नहीं पाता। यहाँ वहाँ उचकना चलना फिरना अनेक चंचलतायें बन्दरमें होती हैं। ऐसे ही इस मनमें अनेक प्रकारकी चंचलतायें हैं। किसी एक जगह टिककर नहीं रहता। किसी एक बातका विचार करे तो चलो उस ही विचारमें रहे, अन्य कुछ न सोचे ऐसा होता ही नहीं हैं। मनकी प्राकृतिकता ही ऐसी है। खोटे कामोंमे भी यह मन एकदम लगा ही रहे सो नहीं होता। उस खोटे कामको भी बदल-बदलकर अब और कुछ, अब और कुछ इस मनको चाहिए। तो ऐसा यह चंचल मन है। हे साधु, हे कल्याणार्थी पुरुष! तू इसको किसी जगह रमा दे।

दृष्टान्तपूर्वक मनको श्रुतवृक्षमे रमानेका वर्णन—जैसे कोई बालक अपने काममे बाधा डालता है तो उसे कोई खिलौना देकर रमा दिया जाता है। जैसे मा के साथ बच्चा आता है मन्दिरमें दर्शन करने। अब मा जाप देने बैठी, बच्चा परेशान कर रहा है तो साथमें कोई लकड़ी आदिका बना खिलौना हो वही देकर उसमें रमा देती है और अपना माला की गुरियां फेर लेती हैं तो जैसे कभी कोई बालक बाधा दे तो उसको किसी बातमें रमा देते और अपना काम निकाल लेते ऐसा किया जाता है ना, इसी तरह हे कल्याणार्थी पुरुष! इस मनको श्रुतवृक्षमे रमा दे और अपनी अनुभूति लेनेको काममें जुट जा।

श्रुतवृक्षकी विशेषतायें—श्रुत वृक्ष मायने शास्त्र-परिज्ञान, ज्ञान वृक्ष। जैसे बन्दर वृक्षमें ही रमा करता है ना, तो मनको भी इस श्रुतवृक्ष

में रमा दो। इस श्रुतज्ञानको वृक्षकी उपमा दी है। जैसे वृक्षमें फूल फल बहुत होते हैं, फलोंके भारसे वृक्ष नम्रीभूत रहता है ऐसा ही यह श्रुतवृक्ष है, इसमें अनेकान्त स्वरूप जो अर्थ है वह ही फल है। यथार्थ अनेकान्त प्रदर्शक अर्थोंसे यह श्रुत स्कंध यह श्रुतवृक्ष लदा हुआ है। वृक्षमें जैसे बहुतसे पत्ते होते हैं तो इस श्रुतवृक्षमें बहुतसे जो शब्द हैं वे ही पत्र हैं। शब्दपत्र हुए, फल हुए, यों पत्र और फलोंसे यह श्रुतवृक्ष हरा भरा और फला फूला है। जैसे वृक्षमें अनेक शाखायें बनती हैं यों ही इस श्रुतवृक्षमें नाना प्रकारके नयोंकी शाखायें हैं जो कि सैकड़ों और हजारों हैं। नय दो एक नहीं होते। जितने वक्ताके आशय हैं उतने नय हुआ करते हैं। सब नयोंका स्वरूप कौन बता सकता है, पर संक्षेप करके वे भेद, भिन्न अनेक नय किसी एक मूल आशयमें सम्मिलित हो सकते है, ऐसी दृष्टि रखकर २ नय, ७ नय, ६ नय आदिक बताये गये हैं। तो यह श्रुतवृक्ष नाना नयों की सैकड़ों शाखावोंसे युक्त है।

समुतुङ्ग श्रुतमें मनको रमानेका दृष्टान्त— जैसे वृक्ष बहुत ऊँचा होता है ऐसे ही यह श्रुतवृक्ष बहुत ऊँचा है। सर्वोत्कृष्ट विकास आत्माका केवलज्ञान है। उस केवलज्ञानसे उपमा दी गयी है श्रुतज्ञानकी। समस्त लोक और समस्त कालको यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। इस समस्त लोकालोक और कालको यह श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे जानता है। समस्त पदार्थ कितने हैं? उन एकत्वस्वरूपको लिए हुए सब पदार्थोंको केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है तो श्रुतज्ञानने यों सबको जान लिया कि जितने भी पदार्थ होते हैं वे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावको लिए हुए हैं। सब त्रिगुणात्मक हैं, लेकिन इस बुद्धिमें सब पदार्थ आ गये कि नहीं ज्ञानमें? यह मैं एक आत्मा हूं और इसके सिवाय सभी अनन्त पुद्गल अनन्त जीव ये सब परपदार्थ हैं। लो इस स्वपर बोधमें सबको जान लिया कि नहीं? कोई शंका करे कि वाह यह तो कहने मात्रकी बात है। सब कहाँ जान गये? अरे सब जान लिया मैंने। मुझे जानना प्रयोजन था उस प्रयोजन पूर्तिकी सीमामें उसके लिए वह सब ज्ञान है। श्रुतवृक्ष बहुत उत्तुंग है। और जैसे वृक्षके चारों और बहुत विस्तार होता है, बड़ा फैलाव होता है, साखा, टहनी फूल फल और पत्तोंका, इसी तरह श्रुतवृक्ष भी सम्यग्ज्ञान, मतिज्ञान आदिक नय प्रमाण निक्षेप आदिक अनेक प्रकारके ज्ञानविस्तार फैला है। हे कल्याणार्थी पुरुष! ऐसे इस मनबन्दरको रमा दे।

मन लगनेकी कठिनताकी आशंकाका निवारण—कोई यह शंका रखता हो मनमें कि मन तो बंदरके समान चंचल है। कितनी भी सावधानी रक्खें

तो भी रागादिक भाव परिणमते हैं, तब क्या करना चाहिए? इसे यह शिक्षा दी है कि देखो मनुष्य बिगाड़ कब करता है जब वह बेकार ठलुवा बैठा हो। जैसे बन्दर ठलुवा रहे तो वह कुछ बिगाड़ करेगा ही। बंदरको वृक्षमे रमा दो तो वह बिगाड़ न करेगा और यह बन्दर भी प्रसन्न रहेगा। ऐसे ही यह मन बेकार है, निरालम्ब है तो इसमें रागादिक अनेक कुभाव प्रवर्तेंगे। तब आप इस मनको शास्त्राभ्यासमें लगा दीजिए तो यह मन रागादिक रूप भी प्रवर्तेगा, उद्दण्ड न होगा और मन भी प्रसन्न रहेगा, और आत्माकी भी रक्षा रहती है। शास्त्रका पाठ करना, शास्त्रके अनुसार स्वरूपका ध्यान करना यह सब शास्त्राभ्यास ही है। ये ही सब श्रुतवृक्ष हैं। जब तक केवलज्ञान नहीं होता तब तक शास्त्रमें ही मन लगाना चाहिए। इससे रागादिकका विलय होगा।

शास्त्रमे चित्त लगानेकी परिस्थितियां—शास्त्र पढ़ना यह भी शास्त्रमें मन लगानेकी बात है, और शास्त्रमें जो स्वरूप आया है पदार्थका उस स्वरूपका चिन्तन करना, वैसा ही ध्यान बनाना यह भी शास्त्रमें मन लगाना है। और जहाँ शुक्लध्यान होता है श्रेणियोंमें वहाँ भी यह मनजो कर रहा है, जिस ओर लग रहा है वह भी शास्त्रसे विरुद्ध बात नहीं है। वहाँ भी शास्त्रमें मन किया है। शास्त्रका अर्थ है ज्ञान। सो इस मन बन्दरको इस श्रुतवृक्षमें, ज्ञानमें रमा दो तो यह भी प्रसन्न रहेगा और यह आत्मा भी रागादिक भावोंसे दूर रहेगा, सुरक्षित रहेगा। एक यही उपाय है इस मनको अधिकाधिक शास्त्राभ्यासमें लगायें, फिर जो कुछ उपादेय है, हेय है, कर्तव्य है वह सब आसानीसे स्वय हो सकेगा।

तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥१७१॥

ज्ञानीका चिन्तन—इन सभी पदार्थोंके सम्बधमें इस प्रकारका चिन्तन चलना चाहिए कि ये सब वही का वही अथवा अन्य-अन्य रूपको प्राप्त हो कर भी नष्ट न होंगे और विराम न पावेंगे। इस चिन्तनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी झाकी है। यह जीव नये नये रूपोंमें जो कि न था ऐसे असद्रूप को प्राप्त होकर भी यह वही तो है और देखो यह नष्ट नहीं हो रहा, और ऐसा होनेका भी विरोध नहीं हो रहा अर्थात् निरन्तर उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे सहित ये प्रत्येक पदार्थ हैं। ऐसा सबको जानने वाला ज्ञानी पुरुष इस अनादि अनन्त विश्वका चिन्तन करे

शास्त्राभ्यासमे वस्तु स्वरूपका सम्पर्क—शास्त्राभ्यास करने वाला ज्ञानी केवल शब्द अलकार आदि एक साहित्यिक दृष्टिमात्रसे ही मनको नहीं

रमाता है, किन्तु वहाँ भी वस्तुस्वरूपका चिन्तन करता है। साहित्यमे तत्त्वस्वरूप जब तक नहीं होता तब तक जान नहीं आती है, और तत्त्व स्वरूपके प्रकरणको लेकर आप सब साहित्य खोज डाले, विद्वानोंका यह मत है कि समस्त साहित्योंमे से यदि जैन साहित्य निकाल दिया जाय तो साहित्य निष्प्राण हो जायगा। इसका कारण यह है कि यह जैन साहित्य जरा-जरा सी बातोंमें तत्त्वको प्रकट करता रहता है। बच्चोंको जो भजन सिखाये जाते हैं–भावना, पद्य, स्तुति आदि उनमें ही तत्त्व बसा हुआ है। और बड़े-बड़े ग्रन्थोंको देख लो जो तत्त्वरचनासे भरपूर है। शब्दशास्त्री केवल शब्दोंके अलङ्कारके ही रसको नहीं लेते किन्तु तत्त्वका चिन्तन भी करते हैं। जीव आदिक कुछ भी वस्तु होये सब नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं, अनेक भी हैं; सत्ता रूप भी हैं, असत्तारूप भी हैं, एक भी हैं, अनेक भी है, आदिक अनेकरूप हैं। ऐसा होकर भी ऐसा नहीं भी है। ऐसे नानाभावोंको प्राप्त होते हुए ये जीव आदिक पदार्थ ऐसा होनेसे विरामको प्राप्त नहीं होते। ये सदैव अपने स्वभावरूप रहा करते हैं।

निर्मोहकताकी शिक्षा – भैया जिस वर्णनसे हम आपको शान्तिके योग्य शिक्षा न मिले तो उस वर्णनका श्रम करना व्यर्थ सा है। पदार्थका यह त्रिगुणात्मक स्वरूप हमें निर्मोहक होने का शिक्षण देता है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी नई अवस्थाको उत्पन्न करते हुए बराबर सततिमें चलते रहते हैं, विराम भी नहीं लेते हैं। जब सब पदार्थोंकी ऐसी ही स्वतंत्र स्थिति है तो किसके हम और हमारा कौन ? समस्त पृथक पृथक वस्तु हैं इस ससारी जीवपर बहुतसे सकट हैं और, संकट ऐसे अनोखे हैं कि बताये नहीं जा सकते। कहाँसे सकट आते हैं ? महलसे, धनसे, बाह्य पदार्थोंसे संयोग वियोग आदि कहींसे भी संकट नहीं आते हैं। ये तो परपदार्थोंके परिणमन हैं। जैसे है, हैं, उनसे संकटकी कौनसी बात आती है ? रंच भी उनसे संकट नहीं है। यदि इन बाह्य वस्तुवोंके किसी परिणमनसे संकट आता हो तब जितने, सामने बैठे हो सबको दु:खी हो जाना चाहिए। कभी तेज बरषातमें किसीका घर गिर जाय और दबकर एक दो व्यक्ति गुजर जायें तो कितना हाहाकार मचता है, और उसको देखने वाले दर्शक लोग देखते हैं। उनके दु:खकी चर्चा करते हैं, पर जो संकट उन बचे हुए घरके लोगोंने माना है वह संकट ये दर्शक लोग मानते हैं क्या ? घरके बिगड़नेसे गिरनेसे सकट नहीं आता है। कहाँसे संकट आता है ? यह बहुत विलक्षण समस्या है। बीत तो खुदपर रही है के उसका विश्लेषण क्या किया जाय ?

व्यर्थकी विपदा—जैसे बिना कामके मुफ्त लड़ाई हो बैठे किसीसे तो लोग उसका नाम धरते हैं। सूत न कपास जुलाहेसे लट्ठमलट्ठा। और, यहाँ क्या गुजर रही है? मेरा किसीसे कोई मतलब नहीं, कुछ सम्बंध नहीं, पदार्थ सब भिन्न भिन्न हैं। मैं सबसे न्यारा हूं। कुछ सम्बंध नहीं, कुछ वास्ता नहीं और इतना संकट बना लिया है। एक बार दो मित्र कहीं जा रहे थे-एक था जुलाहा और एक था ग्वाला। मार्गमें एक बड़ा मैदान मिला तो जुलाहा बोला- यदि हमें यह मैदान मिल जाय तो हम इसमें कपास बोवेंगे। ग्वाला बोला- हम इस मैदानमें भैंसें चरावेंगे। कपासमें अंकुर होंगे ना, सो उनको भैंसें अच्छी तरहसे खाती हैं। तो जुलाहा बोला तू इसमें भैंसे कैसे चरायेगा? ग्वाला बोला- तू इसमें कपास कैसे बोवेगा। भला देखें तू कपास कैसे इस मैदानमें बोता है। जुलाहा बोला- भला देखें तू इस मैदानमें भैंसे कैसे चराता है तो जुलाहेने कुछ हाथ आगे पीछे मटका कर कहा—लो यह हल चल गया, लो यह बखर चल गया, और कुछ छोटे कंकड़ उठाकर फेंककर बोला - यह कपास बो दिया और ऊँचे हाथ करके बोला—लो यह कपास हो गयी। तो उस ग्वालेने कुछ बड़े कंकड़ उठाकर फेंककर कहा लो यह एक भैंस चरने गयी, लो यह दूसरी और यह तीसरी भैंस चरने गयी। दोनोंमें लट्ठमलट्ठा होने लगा। तो क्या बात हुई? सूत न कपास जुलाहेसे लट्ठमलट्ठा। ऐसी ही बात सबके निज घरकी है। ईंटके घरकी नहीं कह रहे। सबका जो घर है, आत्मा है सबके जीवकी यही दशा है। कुछ सम्बंध नहीं, वास्ता नहीं दु:खी हो रहे हैं। यह पदार्थका स्वरूप हमको यह शिक्षा देता है कि प्रत्येक स्वतंत्र है तुम किसीमें ममकार मत करो। जैसे स्वप्नमें देखी हुई घटना सच मालूम होती है ऐसे ही मोहकी नींदमें, कल्पनावोंमें यह सारा वैभव समागम सच मालूम होता है, और इस मायारूप झूटे समागमके बीच परस्परमें कलह विवाद उत्पन्न हो जाते हैं।

वस्तुस्वरूप—प्रत्येक पदार्थ वहीका वही रहता है। रंच भी किसी दूसरेका रूप नहीं बनता और प्रति समय अपनेमें नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न करके अपनी संतति बनाये रहता है और इन कामोंसे विराम नहीं लेता। नित्य नाम किसका है? सदा रहनेका नाम नित्य है क्या? नहीं। सदा बने रहनेका नाम नित्य है। सूत्र जीमें भी कहा है—तद् भावाव्ययं नित्यं। पदार्थके होनेका कभी व्यय नहीं होना सो नित्य है। पदार्थ निरन्तर होते रहना इसका नाम नित्य है। कोई पदार्थ ऐसा नित्य नहीं है जो बनता नहीं है और है। ये प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी नवीन अवस्थाको

धारण करते हुए कभी भी विराम नहीं लेते हैं। अपनेमें अपनी पर्यायको ही धारण करते हैं। किसी पदार्थमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह किसी अन्य पदार्थको उत्पन्न कर दे। यों देखता हुआ यह ज्ञानी पुरुष अपनेमें आपकी ओर अपनेको स्वतन्त्र देखता हुआ शान्त रहता है।

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥१७२॥

पदार्थकी प्रतिक्षण त्रिगुणात्मकता—प्रत्येक पदार्थ वहीका वही एक है, एक ही समयमें ध्रौव्य उत्पाद व्यय स्वरूप है। पहिली पर्याय नष्ट हुई तब नवीन पर्याय बनी, ऐसा नहीं होता, किन्तु उसी समयमें नवीन पर्याय हुई है और पुरानी पर्याय विलीन हुई है। अंगुली सीधी है। जरा टेढ़ी कर दो तो वहाँ ऐसा नहीं होता कि पहिले सीध मिटी हो और बादमें टेढी हुई हो। टेढ़ी होनेका ही नाम सीधका मिटना है। एक ही समयमें उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप प्रत्येक पदार्थ रहते है, और यह कैसे जाना जाय? प्रत्येक पदार्थमें दो प्रकारका प्रत्यय बना रहता है। यह वही है, यह वही नहीं रहा, दोनोंकी दोनों बाते प्रत्येक पदार्थमें विदित होती हैं। कोई पुरुष बालक था, अब युवक हो गया तो बतावो यह वही रहा या दूसरा हो गया? दोनों उत्तर हैं। यह वही है यह भी ठीक है और यह दूसरा हो गया यह भी ठीक है। बचपनका ढाल चाल बोल वर्ताव रूव कुछ जो था अब उसकी गंध भी नहीं रही। अब नवीन नवीन बोल ढाल चाल वर्ताव हो रहे हैं, तब दूसरा हो गया ना? अरे वही तो है, कोई दूसरा जीव नहीं है। यों एक ही समय वही है, अन्य है, ये दोनों प्रत्यय उस एक ही पदार्थमें हो जानेके कारण विदित होता है कि प्रति समय पदाथ ध्रुव है और बदलता रहता है।

अन्यप्रत्यय और तत्प्रत्यय—पदार्थमें जो परस्पर विरुद्ध अनन्तधर्म-समूह सिद्ध किया जाता है यह अन्य अन्य अपेक्षावोंसे किया जाता है। जैसे कोई युवक पिता भी है और पुत्र भी है। तो एक ही व्यक्तिकी अपेक्षा पिता हो और उस ही व्यक्तिकी अपेक्षा पुत्र हो, ऐसा नहीं है। किसीका पिता है और किसीका पुत्र है, ऐसे ही वस्तुको नित्य कहा तो द्रव्यदृष्टिसे कहा। चूँ कि वह चीज नहीं मिटती इस कारण नित्य है और अनित्य कहा तो पर्याय दृष्टिसे। चूँ कि पर्याय बदलती रहती है इस दृष्टिसे अनित्य है। जैसे कोई पुरुष पहिले रंक था, अब राजा बन गया। जैसे सत्यंधरके राज्यमें काष्टाङ्गार था। काठ बेचकर अपना गुजारा करता था। उसे बना दिया राजा। तो जो रंक था वह राजा हुआ तो अवस्था बदलने

की दृष्टिसे तो दूसरा हो गया, अब वह कहाँ रहा, और वही तो व्यक्ति है, कोई दूसरा तो नहीं है, इसलिए वही है, एक है।

रक, राजामे अन्यप्रत्यय व तत्प्रत्यय— भैया! कहीं किसी गरीबको लोगोंने मिलकर जबरदस्ती राजा बना दिया। राजा रहा न था सो एक गरीब घसियारेको जो बड़ा बोझ लेकर चला करता था उसे बना दिया राजा। अब १०-२० दिनमे ही अपने सहारे अब वह उठ न सके। दो आदमी चाहिएँ उसे उठानेके लिए। तो एक व्यक्तिने पूछा कि क्यों साहब! यह क्या बात है कि पहिले तो तुम बड़ा बोझ लेकर चलते थे और अब उठा तक नहीं जाता? तो उसे अलंकारमें यों ढाल दिया कि भाई तब तो थोड़ा ही बोझ था अब तो हमपर पूरे राज्यका बोझ है इससे अब उठा नहीं जाता। तो अन्य हो गया ना, बोझ ढोने वाला और था, अब यह राजा बनने वाला और है किन्तु व्यक्ति वही है।

जीव व भवोमे अन्यप्रत्यय व तत्प्रत्यय—जैसे जीव आज मनुष्य भवमें और मरकर देव बन गया तो बताओ वह अन्य हो गया या वही है? भव बदला, अवस्था पलटी, इस अपेक्षासे तो अन्य है और जीव वही है, भोगने वाला भी वही है इस कारण वह एक है। यहाँ मरण हो जानेसे कुछ जल्दी समझमें आ जाता है—हाँ दूसरा हो गया और एक ही भवमें शरीर में रहता हुआ अवस्था पलटने पर भी तो अन्य कहा जाता है वह जरा देरमे समझमें आता है, पर पर्याय बदलनेकी अपेक्षासे ही तो अन्य अन्य कहा जाता, सो यहाँ भी वही बात और मरण होने पर भी वही बात। यों इस जीवमे नित्यपना अनित्यपना ये सब एक साथ रहते हैं।

ज्ञानीका धैर्य--भैया जिसको वस्तुस्वरूपका ज्ञान न हो तो उसके विकट अंधेरा होता है। जिसमें कुछ नहीं सूझता। अन्तर्ज्ञान स्पष्ट नहीं रहता। किंकर्तव्य विमूढ़ होता है, उसे साफ यह प्रतीत नहीं रहता कि मैं यह हू और मुझे यों चलना है यों करना है। और जिसके सम्यग्ज्ञान है उसके अन्तरङ्गमें स्पष्ट निर्णय है इस कारण वह किसी भी प्रकारकी परिस्थिति आ जाय समस्त परिस्थितियोंमे वह अन्त प्रसन्न रहता है। कहीं शास्त्रसभा रोज हुआ करती थी। पंडित जी वक्ता योग्य थे। स्रोता लोग शास्त्र बड़ी रुचिसे सुना करते थे। जो नियमित आने वाले स्रोता थे उनमें से एक स्रोता एक दिन आध घटा लेट आया तो वक्ताने पूछा भाई तुम आज आध घटा लेट कैसे आये? तुम तो कभी भी किसी भी परिस्थितिमें जल्दी आनेमे चूकते न थे। तो वह बोला महाराज आज हम एक महिमान को विदा करके आये, इसलिए देर हो गयी। सब लोग जान गये। उसका

कोई इकलौता पुत्र था, वही गुजर गया था, उसकी मरघटमें क्रिया करने गया था उसमें आध घंटेकी देर हो गयी थी। तो कुछ ऐसे भी निर्मोह गृहस्थ होते हैं।

कर्तव्यविवेक—आनन्द तो निर्मोहतामें है, कभी भी अनुभव कर लो। यहाँ जितनी चतुराई माना करते हैं ममता करके, मोह बढ़ाकर, संचय करके, व्यवस्था बनाकर, कृपणता करके, अनुदारता करके, संचय करके जो बुद्धिमानी मानी जाती है, परमार्थ दृष्टिसे देखो तो वह बुद्धिमानी नहीं है, वह तो अपने आपकी बरबादी करनेकी करामात है। यह प्रभुवत् शुद्ध ज्ञानस्वरूप वाला अपना आत्मदेव अपनी दृष्टिमें न रहे तो यह सब संसारका भटकना चला करता है। वस्तुस्वरूपको जानें, अपने स्वरूपको पहिचानें और सबसे न्यारा अपनेको निरख कर अन्तः प्रसन्न रहें, इस हीमें हम आपका कल्याण है।

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं,
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात्।
तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप—
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥१७३॥

आलम्ब्य तत्त्वकी जिज्ञासाका समाधान—वह तत्त्व क्या है जिस तत्त्वका आलम्बन करके इस जीवका उद्धार होता है। यह प्राणी मोह अंधकारमें नाना विपत्तियोंके गड्ढोंमें भटकता फिरता दुःख पा रहा है। यह अपनी शान्तिके लिए बाहरमें कभी किसीका, कभी किसीका आलम्बन तकता है। जो चित्तमें आया, जिसके प्रति ममता जगी उसे ही अपना सर्वस्व समर्पण किया। कैसा यह अनन्त ज्ञानकी शक्ति वाला जीव है और अत्यन्त भिन्न अहित असार पदार्थोंका आलम्बन करके यह दुःखी हुआ है। अब दुःखहारी उस तत्त्वका वर्णन कर रहे हैं जिस तत्त्वकी दृष्टि इस जीवने अब तक नहीं पायी अथवा सम्यक्त्व नहीं हुआ। वह तत्त्व क्या है? हमारे लिए सारभूत तत्त्व हमसे बाहर न होगा। हम हीमें होगा। क्योंकि यदि मेरे लिए सारभूत तत्त्व यदि बाहर कहीं हो तो उसके आलम्बन से कभी कल्याण हो ही न सकेगा। क्योंकि वह पर है। परका और अपना एकरस हो जाना, यह असम्भव बात है, और जब तक भेद रहेगा तब तक इस जीवका उद्धार नहीं है। वह तत्त्व कौन है, उसके बारेमें इस छन्दमें संकेत किया है।

आलम्ब्य तत्त्व चित्स्वभाव—स्वहितार्थ आलम्बनके योग्य तत्त्व क्या है? सीधा कह दो चित्स्वभावमात्र है। अपने आपमें जो तरंग उठती हैं वे विभाव हैं, दुःखरूप हैं उनका आलम्बन हितरूप नहीं है। अपने आपमें

जो विचार परमस्वभावमें चलता है वह विचार धोखेसे पूर्ण है, सही रास्तेका नहीं है। यदि सही रास्तेका विचार बने तो वह विचार अपने आपको नष्ट करके निर्विचार ज्ञानप्रकाशका कारण बन जायगा। ये समस्त तरंगे ये संकल्प रंग ये जीवके हितरूप नहीं हैं। मेरा हितरूप मेरा सहज स्वतः शुद्धस्वभाव है। वह तत्त्व न तो सर्वथा अपरिणामी है और न क्षण क्षणमें नष्ट होता है, वह न बोध मात्र है, न भावस्वरूप है, न अभावस्वरूप है। उसमें जितनी दृष्टियां लगायें उतना ही उसका चमत्कार दिखता है, और अंततोगत्वा सर्वविकल्पोंसे शून्य एक चित्स्वभावपर इसका रुकना होता है।

निर्णय व निश्चयका उपाय अनेकान्त—अनेकान्त दृष्टिसे वस्तुका निर्णय होता है। अनेकान्तसे वस्तुके ज्ञानका प्रारम्भ होता है और अनेकान्त उस ही वस्तुका ज्ञान करके जो शुद्ध विकास बनता है वह विकासका अन्तिमरूप बनता है। अनेकान्तका अर्थ है अनेक धर्मोंको समझना अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध है। पहिले अनेक धर्मोंसे परीक्षा करके वस्तुके स्वरूप उपवनमें विहार किया और अन्तमें अनेकान्तका यह अर्थ बना—जहाँ एक भी तरंग, विकल्प, अंश न रहे उसे अनेकान्त कहते हैं। जब ज्ञानकी परिपूर्णता होती है तब ऐसा ही अनेकान्त वहाँ विराजता है। यह आत्मतत्त्व द्रव्यदृष्टिसे सदा रहने वाला है और पर्याय दृष्टिसे यह क्षण क्षणमें परिणमन करने वाला है, अभूतपूर्व पर्यायको प्रकट करता है और पुरानी पर्यायको विलीन करता है।

आत्मतत्त्वकी झांकीका प्रयास—यह आत्मतत्त्व क्या नित्य है? हाँ समझमें आया कि नित्य है, पर दूसरी समझ फिर आयी कि अनित्य है। यह आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र है, किन्तु कोई पुरुष सर्वथा व अद्वैत ज्ञानमात्र मान बैठे कि इस जगतमें केवल एक तत्त्व है और वह ज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्रके अतिरिक्त अन्य कुछ लोकमें नहीं है। किन्तु ऐसा तो नहीं है। तब ज्ञानमात्र भी नहीं है व ज्ञानमात्र भी है। क्या यह आत्मा सत् रूप है? हां सत् रूप तो है ही, लेकिन सत्मात्र ही हो तो आत्माके असाधारण आत्माका स्वभाव न रहनेप आत्माका अभाव होगा। सत् तो साधारणतया सब हैं। हां हां सत्मात्र भी नहीं है। इस आत्मतत्त्वमें हम कुछ खूबियां निरखते हैं और वे ही खूबियां कुछ समय बाद गलत बन जाती हैं।

तत्त्वोपप्लव व शून्यवाद—अनेकान्तपद्धतिसे मानो कहीं वनमें अनेक साधुवोंके बीच ऐसा ही वर्णन चल रहा हो वहां समझदार भी अनेक साधुजन बैठे हों। सुनते थे बारबार कि यह आत्मतत्त्व नित्य भी है, अनित्य

भी है। यह आत्मतत्त्व एक है ? नहीं। अनुभव दृष्टिसे अनेक है। हैं तो सभी बातें। और, उन सभी धर्मोंको जानकर फिर उनकी उपेक्षा करके एक चैतन्य प्रकाशका अनुभव करता था, किन्तु कुछ लोग इन सब बातोंको सुनकर इस निर्णय पर पहुंचने लगे-ओह ! तत्त्व कुछ नहीं है, बस इतना ही तत्त्व है। अब हमने जाना आत्माके बारेमें कि कुछ नहीं है। बस यही सारतत्त्व है। जब कोई समझदार किसी एक बातपर टिक नहीं सका और यह अनेकान्त एक बातपर टिकने भी नहीं देता तो उस समय यही ध्यान में आया कि कुछ नहीं है, यही तत्त्व है तो शून्य ही तत्त्व कहलाया। तत्त्व का बिलकुल अभाव तो नहीं हुआ। शून्य ही तत्त्व सही। और शून्यको तो इतना महान बताया है कि शून्यके सम्बधमें बहुत कुछ घंटों बताया जा सकता है। और उससे फिर शिक्षा भी ली जा सकती है। लो अब यह साधु शून्य तक आया। कहीं कुछ चूक हो जानेसे जो कि अपनेको कुछ विदित भी नहीं होता। कहाँसे कहां दिमाग पहुंचता है ?

सन्मात्र व ज्ञानमात्र—अनेकान्त पद्धतिसे वस्तुस्वरूपका वर्णन सुनते-सुनते कोई अब शून्य पर आया लेकिन थोडे ही समय बाद उसे ही यह सद्बुद्धि उत्पन्न होती है कि शून्य हो, अभाव मात्र हो तब तो फिर यह जगत है क्या ? शून्य तो नहीं है। यह सतरूप है, भले ही उसका असली रूप नहीं आ पाता, सब स्वप्नवत् है पर मूलमें सत् तो है। लो यह सत् तक आया। इसके बाद फिर चिन्तन हुआ। मात्र सत् क्या चीज है। जिसमे यह सब समझ बनी रहे, ज्ञान व्यवहार चलता रहे, और तो क्या, ज्ञानको छोड़ कर है भी क्या तत्त्व दुनियामें। कोई कहे कि यह भींत है। अरे भींतका ज्ञान है तो भींत है, ज्ञान न हो तो भींत क्या ? कुछ भी है। ज्ञानमें आया तब है। न ज्ञानमें आया तो कुछ भी नहीं है। तो यह भी सब कुछ वास्तविक नहीं है। सब ज्ञानमात्र है। लो अब यह संत समझदार अब ज्ञानमात्र तक आया। लेकिन किसी एक जगह टिकना हो कैसे ? टिकना होता है निर्विकल्प तत्त्वका। जहांसे फिर हटा नहीं जाता। और कदाचित् रागवश हट ले तो श्रद्धासे नहीं हटता। और उसको पूर्ण प्रमाणरूप अनुभव कर लेता है। अब पदार्थके सम्बधमें आंशिक बातों पर दृष्टि लगी रहे तो टिके कहां ?

ब्रह्माद्वैत व चित्राद्वैत—थोड़ी ही देर बाद उस ऋषिको यह समझमें आया कि ज्ञानमात्र ही क्या ? जब तक ज्ञेय न हो कुछ, तो ज्ञानका स्वरूप ही क्या बना ? ज्ञानने क्या किया जानना ? जानना किसका कहें ? कुछ ज्ञेय हो तो ज्ञेयका जानना होता है। तब यह ज्ञेयमात्रपर आया। अब वे ज्ञेय और ज्ञान दोनों होना भी चाहें और अलग भी न रहना चाहें तब वहां

ब्रह्माद्वैत आया। अब यहाँ अद्वैतवाद रहा। सब कुछका तत्व कुछ नहीं है यहाँसे लेकर अब तक चित्तमें अद्वैत ही आया। और जब द्वैतकी ओर बुद्धि जाने लगी—बिना दूसरेके, अद्वैत क्या ? द्वैत नहीं है तो लो अब द्वैत कल्पनामें आ गया फिर उसका अभाव है। तो यह समय द्वैत जो ज्ञानमें आता है, द्वैत मानकर भी अद्वैत ही रहा, ऐसी बुद्धि जगे उसका नाम चित्राद्वैत हुआ।

भौतिकवाद—अब जब वह चित्राद्वैत उपयोगमें आया तो अद्वैत कब तक टिक सकता है, अब सब यह दृष्ट होने लगा। और चार्वाक् के रूपमें सिद्धान्त आ गया। अजी साहब कुछ तो है। ये विषय साधन भोजन, परिजन, स्त्री, पुत्र सभी कुछ तो हैं। अब यह ऐसे भेदमें, अद्वैत में आया कि आत्मकल्याण और आत्माकी दृष्टि भी खो बैठा। जो कुछ ये भौतिक समागम हैं ये ही सब कुछ हैं। यह चर्चा ऐसे स्थलकी की जा रही है कि जंगलमें बहुतसे साधुजन ऋषिजन बैठे हों और कोई प्रधान वक्ता आचार्य अनेकान्त पद्धतिसे वस्तुस्वरूपका विवरण कर रहे हों, उस प्रसंगमें उस वर्णनको सुनकर कोई ऋषि किस-किस उपयोगमें पहुंचता है। अब असार अस्थिर बातों पर भी बुद्धि गई ऊब जाती है, तब दृष्टिमें आया कि केवल यही भौतिक ही नहीं किन्तु दो तत्व हैं—प्रकृति और पुरुष। फिर अब भेद चला तो धीरे-धीरे दृष्टि बनती गई—कर्मयोग भक्तियोग आदि आदि। सब कुछ चलकर अन्तमें एक वैशेषिकवाद आ गया।

ज्ञानमूर्तिका चित्रण—लोकमें गणेशकी मूर्ति यों बनायी जाती है कि जिसकी सवारी तो है चूहा और कंधे पर हाथीकी सूँड़ फिट बैठी है, उस चित्रमें विलक्षण बातें दो हैं, हाथीका शिर मनुष्यके शरीरसे एकरस हो गया और वाहन चूहा है जो अचरज करने वाली बात दिखती है। क्या कभी कोई ऐसा व्यक्ति हुआ होगा जो चूहे पर चढ़कर सवारी करता हो ? और क्या कोई ऐसा भी आदमी हुआ होगा जो हाथीकी सूँड़ वाला हो ? ये कुछ मनमें वृत्तियां जग सकती हैं। इसमें विचार यहाँ थमता है कि यह एक ज्ञानकी पद्धति बतानेका चित्रण है, लोग भी गणेश को ज्ञानकी मूर्ति बनाते हैं। जब विद्या प्रारम्भ की जाती है तो लोग श्रीगणेशाय नमः बोला करते हैं। और गणेश हुए भी वास्तवमें ज्ञानी पुरुष। यदि अरहंत भगवानके बाद नीचे किसी दूसरेको बताया जाय कि और कौन है ऐसा महान् पूज्य जिसकी एक-एक बात पूर्ण प्रामाणिक हो, तो आप ही कहेंगे कि प्रभुके बाद नीचेका कोई नम्बर है तो वह गणेशजी का है, गणधर जी का है। गणोंमें जो ईश हो सो गणेश।

साधुवोंके समूहका जो मुख्य प्रधान हो उसका नाम गणधर है, यों लोक प्रसिद्धि हो गयी कि गणेश ज्ञानकी मूर्ति होते हैं।

ज्ञानमूर्तिमे ज्ञानपद्धतिका विकास—अब ज्ञानपद्धति देखिये— ज्ञान की पद्धति दो होती हैं— एक निश्चयनय और एक व्यवहारनय। निश्चयनयका काम है केवल एकको दिखाना। अद्वैत निर्विकल्प विषय होता है निश्चयका। और व्यवहारनयका काम है बड़ी सूक्ष्मतासे भेद कर करके उस वस्तुके खण्ड कर करके खूब समझ बनाना। बस निश्चयनयका प्रतीक तो है वह सूँड जो उस पुरुष शरीरमें एकरस अभिन्न एक बन गया है। वहाँ अब यह भेद नहीं रहा कि यह मनुष्य है और यह सूँढ है, वहीं सब एक है। और व्यवहारनयका प्रतीक है वह चूहा। जो प्रकृति व्यवहारनयकी है वही प्रकृति चूहाकी है, जैसे व्यवहारनय किसी वस्तुके वर्णनमें चले तो उसके हर तरहसे टुकडे करके, भेदकर करके, अंश बना बनाकर उसका अवगम कराता है। तो यह चूहा भी कपड़ा मिले तो कागज मिले तो उसे कुतर कुतर कर ऐसे छोटे टुकडे कर देता है कि यदि आप कैंचीसे उतने बढिया छोटे टुकडे करना चाहें तो नहीं कर सकते हैं। यह है व्यवहार नयका प्रतीक।

वैशेषिकवाद—यह निश्चय व्यवहारात्मकज्ञान उस वनस्थलीमें चल रहा है, उसको सुनकर ऐसी-ऐसी स्थितियां गुजरती हैं कि नाना प्रकारकी वृत्तियाँ चित्तमें उत्पन्न होती हैं। तो अब यह वैशेषिकवाद तक आया, जिसका काम वस्तुके बहुत छोटे छोटे टुकड़े कर देना है। सो वैशेषिक सिद्धान्तमें भी वस्तु अलग, द्रव्य अलग, गुण कर्म सामान्य, विशेष, सम्वाय, अभाव—ये सब तत्व जुदे-जुदे माने गये हैं। हालांकि ये सब तत्व अपनी पृकथ पृथक् सत्ता नहीं रखते। केवल द्रव्य हैं। जो द्रव्यकी शक्ति है वह गुण है, जो द्रव्यकी परिणति है वह क्रिया है। जो अनेक द्रव्योंमें समानताका प्रदर्शक साधारण धर्म है वह सामान्य है। एक पदार्थसे दूसरे को जुदा बताने वाला जो धर्म है वह विशेष। वर्णन करते समय द्रव्यकी इन गुण क्रियावोंको प्रयोजनसे जुदा-जुदा कहा जाता है पर वह है एक। इस एकताको बताने के लिए समवाय है। और चूँकि प्रत्येक पदार्थ तभी अपनी सत्ता रखता है जब उसमें दूसरे पदार्थका अभाव हो। तो यह अभाव बन गया। अलग-अलग क्या हुआ? कुछ नहीं, पर भेदवादकी उपदेश प्रकृति जब बुद्धिमें आयी तो ये सब भेद बन गये। यहां तक अनेकान्तका सुननेके प्रसंगमें बुद्धिने अपना नृत्य किया।

अनेकान्तमे बुद्धिकी व्यवस्थितता—अब अन्तमें जिस अनेकान्तको

सुनकर बुद्धि भ्रम गयी थी। भ्रम भ्रमकर अब उस ही अनेकान्त पर बुद्धि आती है। आह! ठीक है, पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य है। पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। स्वरूपलक्षणकी दृष्टिसे ज्ञानमात्र है और समग्र द्रव्योंकी विशेषताओंकी दृष्टिसे ज्ञानमात्र ही नहीं है। यह आत्मा दर्शनरूप भी है आनन्दरूप भी है। यह आत्मा अभावरूप है। समस्त अनात्मतत्त्वोंका जो अभाव है वही तो आत्मा है। यह आत्मा भावरूप है। जो इसका सहजस्वरूप है वही तो आत्मा है। यह आत्मतत्त्व प्रतिक्षण वहीका वही होकर भी नाना रूप हो रहा है। इस आत्माका न कोई आदि है और न कोई अन्त है। ऐसा यह आत्म-तत्त्व भी अनेकान्तकी पद्धतिसे अब दृष्टि में आया। यही तत्त्व है आलम्बनके योग्य।

आलम्ब्य तत्त्वका बाह्यमें अभाव—घरमें, कुटुम्बमें अन्य पदार्थोंमें। इन मायामयी पुरुषोंमें, गाँवोंमें, नगरोंमें किसी भी जगह सिर मारनेसे आत्माका कोई विकास नहीं बनता। आलम्बनके योग्य एक ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। अन्य जो कुछ भी प्रक्रियाएँ हैं वे सब भटकनाएँ हैं। और इस परके लगावके फलमें अन्तमें धोखा ही होगा और खुद पछताना पड़ेगा। कैसा अमूल्य जीवन पाया था। ज्ञानमें समय लगाते, ज्ञान दृष्टि बनाते, सत्सग करते, भाव पवित्र बनाये रहते तो कुछसे कुछ विकास और उद्धार होता। यह दुर्लभ नरजीवन सफल कर लिया जाता। लेकिन कुछ न किया। आज मर रहे हैं। इस शरीरको त्याग कर जा रहे हैं। होगी ना ऐसी किसी दिन हम आपकी स्थिति? अब बताओ कि हम आप क्या यहाँसे लूटकर ले जायेंगे?

ज्ञानाश्रय बिना हानियां ही हानियां—अरे भैया! यहासे कुछ लूट कर साथ ले जानेकी बात तो दूर रही, उल्टा हम आप जो साथमें लाये थे उसे भी यहा लूटाये जा रहे हैं। साथ कुछ धर्मवासना थी, कुछ निर्विकारता भी प्राप्त थी (बचपनमे निर्विकार तो थे ही) कुछ बुद्धि भी तीव्र थी। बड़ी बड़ी समस्यायोंको सुलझाने, हल कर देनेकी सामर्थ्य थी। पढ़नेमें, काम काजमें जिस ओर चित्त चाहा उस ओर सफलतायें ही पायीं। बड़ी तीव्र बुद्धि भी थी। और बहुत कुछ विवेक भी रहा। समझदारी भी थी, लेकिन सबके सब हमने उनको पानीमें घोल डाला। सब व्यर्थ कर दिया। अब मैं जा रहा हू। क्या लेकर जा रहा हू। जो विभव कर्म किये उनका संस्कार व जीवनमें जो पापकर्म बाधा उन द्रव्यकर्मोंको साथ लिए जा रहा हू। पाप कुवासनाएँ, कषायें ये सब संस्कार साथ लेकर जा रहा हूँ। लाभ कुछ भी न उठाया। जड़ पदार्थोंमें अपना उपयोग सिर मार मार अपनेको मूढ ही बनाया, पछतावा ही हुआ। आलम्बनके योग्य तत्त्व तो यह चित्स्वरूप है

सम्भव हर प्रयत्नोंसे इस तत्वका आलम्बन करना अपना कर्तव्य है।

ज्ञानस्वभाव: स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

अच्युति और तृप्ति—अच्युत नाम भगवानका भी है। जो च्युत नहीं होते हैं, अपनी स्वभावमहिमासे गिरते नहीं हैं उन्हें अच्युत कहते हैं। अच्युतमें क्या दशा रहती है स्वभावके प्रति ? यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है और उस ज्ञानस्वभावकी प्राप्ति होना सो ही अच्युति है, जो पुरुष अपने स्वभावसे च्युत नहीं होना चाहते हैं स्वभावकी प्राप्ति चाहते हैं उन्हें चाहिए कि निरन्तर ज्ञानभावनाको भायें। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही हू ऐसा अपनेको ज्ञानस्वरूपमें भाते रहना चाहिए इस उपयोगके प्रसाद से विकल्प हटेंगे और निर्विकल्प आनन्दकी प्राप्ति होगी। जैसे कोई पुरुष अपने धनका धनी बनकर अपनी प्रवृत्ति रखता है तो उसकी एकसी दशा रहती है। यह लौकिक दृष्टान्त है, और जो दूसरे के धनसे धनी बनकर अपनी प्रवृत्ति करता है उसकी एक सी दशा नहीं रहती, ऐसे ही आत्माका जो सहजस्वभाव है उस सहजस्वभावके ज्ञान ही का स्वामी होकर रहता है वह तो तृप्त रह सकता है और जो परद्रव्यका स्वामी बनकर, अधिकारी बनकर अपनी प्रवृत्ति चाहता है वह तृप्त नहीं रह सकता है।

ज्ञानीका ज्ञान—ये सर्व पदार्थ जैसे हैं तैसे परिणमते हैं, मैं तो इनका केवल जाननहार ही हू, ऐसी जिसके भावना जगे उसको अविनाशी अवस्था बनती है। जीवका जाननपना तो स्वभाव है, स्वभावका कभी भी अभाव नहीं होगा। जो पदार्थ है, उसका स्वरूप भी है। देखो जानन बिना तो यह किसी परपदार्थका भी स्वामी कल्पनामें नहीं बनता। जो जीव पर-द्रव्यका अपने को स्वामी मान रहे हैं उसमें भी जाननका ही तो प्रताप है। वह जाननसे ही तो ऐसा जान रहा है। जो पुरुष इन बाह्य अर्थोंका स्वामी मानकर अपने ज्ञानपरिणमनका ही स्वामी मानता है वह परमार्थतः अपने ज्ञानका स्वामी है और वह निराकुल रहता है। अपने आप की अविनाशी अवस्थाको जो चाहते हैं वे एक ज्ञानस्वरूपकी ही भावना भाते हैं।

आत्मप्रतीतिकी धुन—जैसे लौकिक जन सोते, उठते बैठते अपने नाम की बड़ी श्रद्धा रखते है, मैं अमुकचद हू। ऐसी ही प्रतीति प्राय: सभी कार्योंमें बनाये रहते है ये जीव। ऐसे ही ज्ञानी जीव अपनेको मै ज्ञानमात्र हू ऐसी प्रतीति निरन्तर बनाये रहता है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं ऐसी भावना में ही सर्वकल्याण बसा हुआ है। प्रत्येक जीव अपने बारेमें किसी न किसी रूप अनुभव करते हैं। पशु, पक्षी, अज्ञानी बहिरात्मा, अन्तरात्मा सभी अपने आपमें अपने आपकी किसी न किसी रूप प्रतीति बनाये रहते

है। कोई यथार्थ कोई अयथार्थ प्रतीतिके बिना कोई परिणति भी नहीं चल सकती है। तो हम अपने आपको ऐसी प्रतीतिमें न रक्खें कि मैं अमुक गांवका हूं, अमुक कुटुम्बका हूं, अमुक घरका हूं, अमुक नाम वाला हूं। अपने आपको मूलतः ऐसी प्रतीति न बनाएँ यह सब तो जाल है, भटकन है। यह आजकी बात है, पहिले तो न थी, आगे न रहेगी। यह सब मायाजाल है। इस रूप मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञान स्वभाव मात्र हूं, ऐसा जो प्रतीति में लेगा वह लाभ पा लेगा और जो इस प्रतीतिसे दूर होगा उसकी वह दशा रहेगी जो अब तक है।

मौलिक अन्तरकी आवश्यकता—भैया! अपने आत्माकी प्रतीति किये बिना वास्तविक अन्तर नहीं आ सकता। जैसे बहुतसे धर्मार्थी पुरुष बहुत कालसे बराबर धर्ममें लगे हुए हैं। पूजा, पाठ, स्वाध्याय, समारोह, दान सभी बातोंमें बराबर ठीक सावधानीसे चल रहे हैं। किन्तु बड़ी अवस्था हो जाने पर भी कुछ तृप्तिसी नजर नहीं आती, कुछ विशुद्ध आनन्द नजर नहीं आता। जैसे अन्य लोग जो धर्मकी प्रवृत्तिसे दूर रहा करते हैं, जैसा दुःख वे मानते हैं वैसा ही दुःख यहां भी बना हुआ है। तो कुछ अन्तर न आया, कुछ शान्ति न मिली, सन्तोष न हुआ, इसका कारण क्या है? कारण यह है कि हमने अपनी प्रतीतिमें अन्तर न किया। शरीरकी क्रियावोंमें या अन्य व्यवहारमें अन्तर तो डाला, पर अन्तरङ्गमें मौलिक श्रद्धामें अन्तर न किया।

केवल ज्ञानके उपायकी भावना—मैं यह सब कुछ नहीं हूं। मैं तो केवल ज्ञान मात्र हूं। ऐसे ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी भावना जो करता है वह केवल ज्ञानकी अवस्थाको प्राप्त कर लेगा। उस स्थितिका भी नाम केवलज्ञान है। और यहां भी केवल यानी सिर्फ ज्ञान मात्रकी ही भावना करनी है। यह विवेकी पुरुष इसी अन्तर्योगको करता रहता है। कितनी स्वाधीन बात है। आप हैं, आपका मन, आपका विचार सदा आपके पास है। यहां बैठें, घर में बैठें, दुकानमें बैठें, जंगलमें बैठें, कहीं भी आप हों तो अपने ज्ञानस्वरूप की भावना करनेमें कौनसी दिक्कत है? ये धन वैभव सम्पदा परिजन तो जहांके तहां हैं। इनसे मेरे आत्माका कुछ सम्बंध नहीं है। ऐसी भावना जहां कहीं भी हो, कर सकते हैं। पर यहां तो कल्पनावोंमें समय गुजारा जा रहा है।

क्षणिक जीवनके सदुपयोगकी प्रेरणा—यह जीव यहाँ क्या कर रहा है? प्रतिक्षण मरण हो रहा है उसपर दृष्टि ही नहीं है। दो प्रकारके मरण होते हैं— एक तद्भवमरण और एक आवीचिमरण। तद्भवमरणको तो लोग मरण कहा करते हैं किन्तु जो समय गुजरा उस आयुका निषेक ही

तो गया वह आयुका क्षण ही तो निकल गया। वह आवीचिमरण है। प्रति क्षण हम मरते जा रहे हैं। जो आयु निकल गयी, मर गयी वह आवीचिमरण है। तद्भवमरण कैसा है? जैसे हम आपके ये ४०, ५०, ६० वर्ष यों ही चुटकीमें निकल गये, कुछ पता नहीं, तो बाकी जो थोड़ा समय रह गया वह भी चुटकीमें ही निकल जायगा। ऐसा जो अन्तिम मरण होता है वह तद्भवमरण है। इस रहे सहे समयका सदुपयोग करना है तो अपने आपको मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य सब तो माया जाल है इस भावनाको बारबार भाते रहो। इस भावनाके ही प्रसादसे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। इस भावनाका भाना हम आप सभीका परम कर्तव्य है।

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७५॥

ज्ञानका वास्तविक फल—किसी भी काम करनेका कुछ न कुछ फल माना जाता है, बिना फलके कोई कुछ करना ही नहीं चाहता। आखिर इसमें लाभ क्या मिलेगा, यह दृष्टिमें न हो तो कौन क्या काम करता है? यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। इसका जाननेका लगातार काम लगा हुआ है। किसी भी क्षण यह जाननेसे विराम नहीं लेता। तो यों जानते रहनेमें आखिर फल क्या मिलता है? आचार्यदेव बोलते हैं कि ज्ञानमें तो यही प्रशंसनीय फल है। अविनश्वर फल है कि ज्ञान बने। जाननेके फलमें जानना रहे यही उत्तम अविनश्वर फल है। जानन फलमें कुछ जाननमें लावें। अन्य कुछ ज्ञानका फल चाहें तो यह सब मोहका माहात्म्य है। सीधे सादे तो जाननेके फलमें जानना रहे यही उत्कृष्ट फल है

ज्ञानका प्रशंसनीय फल—जैसे शास्त्रके आधारसे जाना, सम्यक्ज्ञान किया तो तत्काल तो यह फल मिला कि पदार्थोंका हमें यथार्थ ज्ञान हुआ और संततिसे परम्परासे यह फल मिलेगा कि केवल ज्ञान होगा, उस समय में समस्त पदार्थोंका जानना होगा। यों ज्ञानका फल ज्ञान ही है और यही फल वास्तवमें प्रशंसाके योग्य है, क्योंकि केवल जानन बना रहनेसे निराकुलता रहती है। निराकुलता ही सुखका लक्षण है। सुख वास्तवमें यही है जो स्वाधीन हो और अविनश्वर हो, इन दो बातोंको देख लीजिए ये वैषयिक सुख चेतन अचेतन बाह्य पदार्थोंका आश्रय करके कल्पनामें माने हुए सुख पराधीन हैं और विनाशीक सुखकी चाह न रहे।

वैषयिक सुखोंकी दुःखकारिता—वैषयिक सुखोंमें सुख भी वास्तवमें नहीं है। दुःखको ही सुखकर माना है, जैसे खाज शरीरमें हो जाय तो उसकी

खुजान बड़ी भली लगती है, प्रायः करीब-करीब कुछ न कुछ सभीको कुछ न कुछ खाज हुई होगी और अनुभव होगा। खाज खुजानेके समय दुनिया की सारी बातें भूल जाते हैं, एक चित्त होकर हाथ पैर एकदम टन्नाकर खाज खुजलाते हैं। उस समय खाजमें ही चित्त रहता है। खाज बड़ी भली लगती है, पर उसके फलमें पीछे बहुत वेदना बढ़ती है, इसी प्रकार मोहवश काम, क्रोध आदिक कुछ कषायें आत्मामें बनती हैं तो हमें बाहरी पदार्थ चेतन अथवा अचेतन बड़े भले मालूम होते हैं। कामवासना वालेको स्त्री पुरुष भले मालूम होते हैं। क्रोध वालेको लाठी शस्त्र ये बड़े भले मालूम होते हैं, मान वालेको स्थान या नाना बातें ये बड़ी भली मालूम होती हैं। लोभ वालेको वैभव भला मालूम होता है। इन चेतन अचेतन तत्त्वोंको यह मोहवश चाहता है, लेकिन इसका अन्तिम फल क्या है? केवल आकुलता।

ज्ञानके फलमें अज्ञानको चाहनेकी दुर्बुद्धि—भैया! दुर्बुद्धिके काम करने के मौजोंकी सब कसर एक साथ निकल आती है। जैसे कोई रोज रोज सादा भोजन करे तो महिने भर बराबर रोज भोजन कर सकता है और कोई आसक्तिसे दो चार दिन खूब पौष्टिक भोजन करके हलुवा पूड़ी आदि पेट भर खाये (एक तप होता है ऊनोदर और इसके एवजमें लोग करते हैं दूनोदर) तो फिर १५ दिन तक मूंगकी दाल ही खाकर रहना पड़ेगा। लगा लो हिसाब, दोनोंका हिसाब एकसा ही बैठता है। इन वैषयिक सुखोंके कुछ क्षण भोगनेके बाद फिर पछतावा ही रहता है या अन्य-अन्य अलाभ, चिन्ताएँ, शल्य ये सब भोगने पड़ते हैं। पर जो ज्ञान के फलमें जो ज्ञानका ही प्रयोजन रखते हैं उनको कोई आपत्ति नहीं आती। ज्ञानी जन तो ज्ञानके फलमें जाननेके सिवाय कोई अन्य कुछ फल चाहें तो उसमें आश्चर्य किया करते हैं, जैसे किसी पुरुषको कोई भूत लगा हो या चित्तकी अस्थिरता बन गयी हो तो उसकी चेष्टा आश्चर्यकारी होती है, ऐसी मोही जीवोंकी चेष्टा ज्ञानीजनोंको आश्चर्यकारी विदित होती है। ओह! बड़े आश्चर्यकी बात है कि ये संसारी जीव ज्ञानके फलमें ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी चाहा करते हैं। अन्य कुछ चाहना यह हितकारी बात नहीं है।

शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्मलः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

भव्यकी विशुद्धि और अभव्यकी मलिनता— एक तो होती है मणि और एक देख लो कोयला। आगमें मणि डाल दो तो उसमें चमक और बन जायगी और कोयलेको आगमें डाल दोगे तो उसमें राख बनेगी, ऐसे ही

भव्य पुरुष शास्त्रकी अग्निमें तपते हैं, ज्ञानकी अग्निमें तपते हैं तो ये भव्य विशुद्ध बन जाते हैं, प्रभु हो जाते हैं और अभव्यपुरुष कोयलेकी तरह हैं। भले ही ये किसी तपस्यासे तप लें मगर उनके विशुद्ध पवित्रता नहीं बढ़ती है। वे भस्मकी तरह मलिन ही बनते हैं।

अज्ञानियों द्वारा ज्ञानियोंकी नकल—समयसारमें कहा है—फलयन्तीह तुष न तण्डुलम्—एक अभागे पुरुषने सोचा कि हमारा पड़ोसी यह सेठ कैसे धनी हो गया, क्या कर रहा है यह, जरा इस बातको देखें। जो यह करता है सो हम करें, हम भी धनी बनें। तो एक बार वह सेठ चावल के मिलपर धान खरीदने गया। वह अज्ञानी भी उसके पीछे चला। उस सेठने १०-५ गाड़ी धान खरीद लिया और गाड़ी लदाकर दूसरे बाजार में ले जाकर बेच दिया। वह अज्ञानी दूरसे देखता रहा कि यह कैसे क्या करता है? दो तीन दिन बाद, वह भी उसी मिलपर पहुंच गया। तो कुछ ऐसे धानके मिल होते हैं कि जहाँ धानमें से चावल निकल जाते हैं और छिलका धान जैसा पूराका पूरा निकल आता है, जिसे भुसी कहते हैं। उस भुसीका ही उसने कई गाड़ी खरीद लिया, अब उसका क्या होगा सो आप जानते ही हो। ऐसे ही ये ज्ञानी पुरुष क्या किया करते हैं? जिसके प्रसादसे ये तृप्त रहा करते हैं। पूज्य होते हैं और उत्तम पद प्राप्त करते हैं? किया क्या करते हैं? अज्ञानी ने देखना चाहा तो बाहरी प्रवृत्ति तो उसे दिखी, पर अन्तरङ्गमें ज्ञानीका कैसा परिणमन हो जाता है इसका उसे क्या भान? यों चलते हैं, यों बैठते हैं, यों खाते हैं, यह सब अज्ञानीने देखा और उस ही को धर्म मानकर वह भी उसी भेषसे उसी रूपमें खाने पीने उठने, बैठने, चलने लगा। पर जैसे भीतरके चावलका मर्म न जानने से केवल छिलका खरीदने से धनी तो नहीं बना जाता यों ही अन्तरमर्मका ज्ञान न होनेसे केवल बाहरी क्रियावोंसे शान्तिपथ प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानी और अज्ञानीकी वृत्तिसे हिताहितलक्षण—ये भव्य जीव ज्ञानाग्निमें तपकर विशुद्ध हो जाते हैं और ये अभव्य जीव शब्द मात्रसे व्यवहार धर्मके श्रमसे तपकर मलिनके मलिन ही बने रहते हैं, जो कुछ थोड़ा पुण्यवश लोक दृष्टिमें दिव्य सुख मिल जाता, यहाँ उसे कुछ नहीं गिना गया। ये तो सांसारिक लाभ होते हैं थोड़े-थोड़े फर्क पाने। हमें चाहिये कि हम अपनी शुद्ध प्रतीति बनानेमें अधिकाधिक यत्न करें। मैं ज्ञान मात्र हूं, ऐसी प्रतीति बने तो वहां धर्म मार्गमें हमसे भूल नहीं हो सकती।

शुद्धं प्रपार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥१७७॥

सम्यग्ज्ञानके प्रसारसे राग द्वेषका निराकरण—अध्यात्मवेदी मुनि सम्यग्ज्ञानको बार-बार पसार कर अर्थात् सम्यग्ज्ञानका फैलाव करता हुआ जितने ये पदार्थ फैले हुए हैं अर्थात् पदार्थोंका विज्ञान करते हुए प्रीति और अप्रीतिका निराकरण करते हैं, राग और द्वेषसे दूर रहते हैं जिन्हें आत्मतत्त्वका सुबोध हो गया है उन्हें पहिले तो आगमसे अनुमानसे जीवात्मकतत्त्वका निश्चय हुआ। फिर यथार्थ श्रद्धान् हुआ। फिर जिस प्रकार राग और द्वेष न हों उस प्रकार बाह्य साधन बनाया, अन्तरङ्ग विचार बनाया और इस प्रकारकी रत्नत्रयरूप प्रवृत्तिसे राग द्वेषका नाश करें तब सिद्ध होते हैं।

ध्यान सिद्धि—ध्यान नाम है उपयोगकी स्थिरताका जिसके उपयोग के विषय विषयसाधन बने हुए हैं तो चूँकि ऐसी ही प्रकृति है कि विषय साधनोंका सेवन करके जो उपयोग बनता है वह उपयोग मूल आधारवान् न होने के कारण डावाडोल रहा करता है। किन्तु जो पुरुष यथार्थ श्रद्धान् करके प्रयोजनभूत उपादेयभूत निज सहज अन्तस्तत्त्वका उपयोग करते हैं तो चूँकि यह उपयोग स्वाश्रित है इस कारण यह उपयोग निश्चल रहता है। उपयोगकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है यह उपयोग निश्चलता यथार्थ-ज्ञानसे ही होती है। यथार्थ ज्ञान करनेके लिए ज्ञानका विस्तार बनाना होता है। जो पदार्थ जैसा है राग द्वेषकी वासनाका आधार तज कर उन्हें जाने तो ज्ञानका विस्तार बनता है। इस ज्ञानका प्रसार करके, फैला करके जो पुरुष राग द्वेषका निराकरण करता है वह ही वास्तविक ध्यान करता है। वहाँ एक यह अन्दाज कर लो कि जब ज्ञान संकुचित रहता है तो राग द्वेषकी प्रवृत्ति बनती है। किसी एक पुरुषमें, स्त्रीमें, मित्रमें, इष्टजनमें जब ज्ञान सकुचित हुआ वहा राग द्वेष बना। यह ज्ञान एकमें ही न रुके, सब पुरुषोंमें फैले, सबको विषयभूत बनाये तो वहा राग द्वेष फिर प्रसार नहीं रहता।

योगी सतोका यत्न—ये योगी सत जो राग द्वेषके निराकरणके यत्न में हैं उनके ज्ञानका प्रसार होता रहता है। और कभी जब केवल आत्मा का ही ध्यान करते हैं, समस्त परको विषय न बना कर एक आत्मतत्त्वका ही ध्यान करें उस कालमें भी उनका ज्ञान उनके उपयोगमे व्यक्त नहीं है फैला हुआ, फिर भी वह फैला हुआ है। आत्मानुभवकी स्थितिमें यह ज्ञान सहज फैला हुआ रहता है। यह आत्मानुभूति कैसी विलक्षण स्थिति है कि उपयोग विषय तो कर रहा है आत्माका पर प्रकृत्या चूँकि वह निर्भार उपयोग है शुद्ध, स्वच्छ है तो वह स्वभावत फैला हुआ रहता है। और उस फैलावमें एक सामान्य प्रतिभास रहता है। जो चीज निर्भार होती है

उसका फैलाव बहुत बड़ा होता है। भार वाली चीज का विस्तार थोड़ा होता है।

निर्भारके प्रसारका दृष्टान्त—यह पृथ्वी भार वाली चीज है और पृथ्वीकी अपेक्षा जलमें भार कम है तो इस मध्यलोकमें देख लीजिए पृथ्वीसे जलका भाग कई गुणा अधिक है। जो लोग बच्चोंकी दुनिया मानते हैं वे लोग भी जल प्रदेशको अधिक बताते हैं और सैद्धान्तिक लोग, धार्मिकजन भी जलभागको अधिक बताते हैं। जितना स्वयंभूरमण समुद्र है, जितने भागको लिए हुए वह जलसमूह है उससे आधेमें असंख्यात द्वीप समूह बसे हुए हैं तो समझ लीजिए कि पृथ्वीसे जल भाग अधिक है, क्योंकि जल पृथ्वीकी अपेक्षा निर्भार है और जलसे भी अधिक भाग है हवाका क्योंकि जलकी अपेक्षा हवा निर्भार है, और हवाकी अपेक्षा आकाशका विस्तार बहुत ज्यादा है क्योंकि आकाशमें भार ही नहीं है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही अधिक फैला हुआ होता है। आकाशसे भी अधिक फैला हुआ ज्ञान होता है। जितना आकाश है उसे भी केवलज्ञान जान लेता है, अन्य समस्त द्रव्योंको भी जान लेता है और जितना जाना है उससे भी अनन्त गुणा आकाश लोक हो तो सबको यह केवलज्ञान जान लेगा।

आत्मानुभूतिमें ज्ञानकी निर्भारता—प्रकरणमें आत्मानुभूतिकी बात कही जा रही है, आत्माके ज्ञानस्वरूपका जो अनुभव करे वह ज्ञान निर्भार है और विषय यद्यपि केवल निजको कर रहा है, फिर भी स्वभावतः विलक्षण पद्धतिसे बहुत फैला हुआ है, जिसकी सीमा भी नहीं कूदी जा सकती। विलक्षण ढंगसे फैला है, जिसमें दृढ़तासे यह भी नहीं कह सकते तो बतावो किस पदार्थको जाना ? उसमें विकल्प ही नहीं, फिर भी केवल आत्मामें ही वह संकुचित नहीं है। योगी पुरुष इस सम्यग्ज्ञानको जैसा जो पदार्थ स्थित है, जहाँ तक है प्रायः वहाँ तक फैला देते हैं, और इन रागद्वेषोंको सुखाते हैं। भीगी धोती को खूब फैला दो तो जल्दी सूख जायगी और धोकर ऐसे ही धर दो तो कुछ दिन सूखनेमें लगेंगे। इस ज्ञानको लोकमें फैला दो तो रागद्वेष सूख जायेंगे और इस ज्ञानको कुछ परिजनोंमें, मित्रजनोंमें संकुचित कर दिया तो उसमें रागद्वेष ही बसेंगे। ये ज्ञानी पुरुष इस ज्ञानको बहुत-बहुत फैला करके राग और द्वेषका निराकरण करते हैं।

वेष्ठनोद्वेष्टने यावत्तावद्भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥१७८॥

कर्मोंके वेष्ठन और उद्वेष्ठनका परिणाम—जैसे दही मथनेकी मथानीमें

जो रस्सी लगी रहती है उस रस्सीका एक भाग खुलता है तो दूसरा भाग लिपटता है। दोनों हाथोंमें रस्सी है। उस रस्सीका खुलना भी मथानी की आफतके लिए है और लिपटना भी मथानीकी आफतके लिए है। वह मथानी घूमती रहेगी। ऐसे ही हम आप या ससारीजनोंके ये कर्म बँधते हैं और कर्म मिटते भी हैं। याने उदय उदीरणा भी करते हैं तो इन कर्मोंका निकलना भी आफतके लिए है और इन कर्मोंका बँधना भी आफतके लिए है। मथानीमें रस्सी जो खुलती है वह बेअटक सम्बंध तोड़कर खुल जाय तो मथानी न नाचेगी, पर अटक सहित खुलती है। ऐसे ही जीवके ये कर्म हैं। इनकी बेअटक निर्जराकी अवस्था बन जाय तो वह जीवके कल्याणके लिए है किन्तु ऐसा न निकलकर उदय और उदीरणाके रूपसे निकलते हैं। तो यों समझिये कि कर्मोंका यों निकलना दु खके लिए है। उस निकलनेसे तो भला बँधे रहना था। जब तक कर्म जीवमें सत्ता रख रहे हैं उनकी वजहसे जीवका बिगाड़ नहीं है, रुके हैं, पर वे कर्म जब निकलते हैं याने उदयको प्राप्त होते हैं तब क्लेश भोगनेमें आता है।

अहितपूरक कर्मोंका आगमन व निर्गमन—निकलना और उदय होना एक ही बात है। कभी कभी आप यह भी तो कहते हैं कि सूर्यका उदय हो रहा है और कभी आप यह भी कहते हैं कि सूर्य निकल रहा है तो निकलना और उदय होना एक ही अर्थ रखता है। तो ये कर्म जब निकलते हैं तो आफतके कारण बनते हैं उदय अथवा उदीरणा, सो जब तक वेष्ठन और उद्वेष्ठन होता है, बँधना और निकलना होता है, बंध और उदीरणा होती है तब तक ससारसमुद्रमे इस जीवका भ्रमण चलता है। जैसे कि मथानी की रस्सीमें लपेटना और निकलना होता है तो वह मथानीके भ्रमणके लिए ही होता है। ससारी जीवोंकी दशाका इसमें चित्रण किया है। बँधना और ऐसे उदय उदीरणाके रूपसे निकलना इसकी जो एक पद्धतिसी बनी हुई है उस पद्धतिका जब तक अनुभव नहीं होता तब तक इस जीवकी शुद्धता प्रकट न होगी। कर्मोंके निकलनेसे अर्थात् उदय होनेसे ये रागादिक भाव हुए और रागादिक भाव होनेसे कर्म बँधे। फिर कर्म उदयमें आ गये, इस पद्धतिसे जीवका ससारमें भटकना ही बना रहता है।

मुञ्चकानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥१७६॥

निर्जरणकी द्विविधता—जैसे मथानीकी डंडीमे रस्सीकी फांसी लगी है तो उसका खुलना दो प्रकारसे होता है—एक तो ऐसा खुलना जिससे वह नवीन बध हो इससे उस मथानीमें परिभ्रमण ही होता है, और एक ऐसा खुलना होता है जिससे कि नवीन बध बिल्कुल न हो, खोलकर ही अलग

धर दें। दही मथ जानेके बाद उस रस्सीको खोलकर बिल्कुल ही आगे रख दें तो इससे उस मथानीका भ्रमण नहीं होता। उसकी फांसीसे मुक्ति हो जायगी। इसी प्रकार संसारमे इस जीवके कर्मकी फांसी पायी जाती है, सो उसका निकलना दो तरहसे हो रहा है। एक तो ऐसी निर्जरा चलती है कि जिस निर्जराके कारण नया बंध होता रहता है। उदय नाम निर्जराका है। जो कर्म बँधा है समय पाकर निकले इसको कहते हैं निर्जरा अर्थात् उदय। ऐसे भरनेसे तो और नया बंध होता है, फिर संसारमें भ्रमण चलता है और एक ऐसी निर्जरा होती है कि जिससे नवीन बंध तो होता नहीं और निर्जरा हो जाय तो ऐसी निर्जरासे फिर संसारमें भटकना नहीं होता, इसमें कर्म फांसीसे मुक्ति ही हो जाती है। इसे कहते हैं अविपाक निर्जरा। अपना फल देकर कर्मका झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा तो अहित करने वाली है और जो अविपाक निर्जरा है, फल न दे, नवीन कर्म न बँधें और निर्जरा हो जाय उससे आत्माका हित होता है।

आशयकी विशुद्धिमें आत्मलाभ—भैया! हमारी बेसुधीमें हम सावधान नहीं हैं ऐसी स्थितिमें यह होता है कि कर्म तो समय पाकर आते हैं उदयमें निकलते हैं। उस उदयका निमित्त पाकर विभाव बनते हैं, नवीन कर्म बँधते हैं और जकड़ाव होता है। हमारा आशय विशुद्ध हो। संसारके किसी पदार्थकी अन्तरङ्गसे इच्छा न हो तो उसके अविपाक निर्जरा होती है। ज्ञानीका ऐसा स्पष्ट ज्ञान रहता है कि जिसमें सहज वैराग्य बसा होता है। ये समस्त परपदार्थ भिन्न हैं, अहित हैं, वे अपने ही चतुष्टयसे परिणमते हैं, उनका जो कुछ जैसा परिणमन है वह उनका उनमें है। हम अधिकारी नहीं। कोई पुरुष परपदार्थका जबरदस्ती अधिकारी बनना चाहे तो उसे अधिकार तो नहीं मिलता, परवशता जरूर बनी रहती है। ज्ञानी जीवने समस्त पदार्थोंको उनके ही स्वतन्त्र स्वरूपके रूपमें निरखा है, इस कारण इस यथार्थ ज्ञाताको व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती।

दृष्टिके अनुसार सृष्टि—भैया! अपना कल्याण अपना भविष्य अपने ही हाथ है। जैसा आशय बनायें इस ओर यह नाव चले। जैसे जिस ओरके लिये करिया घुमाया उस ओर ही नाव चल बैठती है, ऐसे ही जिस प्रकारका आशय बना उस प्रकारकी ही सृष्टि होती चली जाती है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपना अभिप्राय विशुद्ध रक्खें, विषयजालमें न फसें। यह जीव विकारभावोंमें रुचि न करे, यथार्थ ज्ञान जो पाया है उसका लाभ उठाये, रागद्वेषकी प्रवृत्ति न हो तो इस जीवको इतनी प्रसन्नता होगी, इतनी निराकुलता होगी कि वह स्वाधीन शुद्ध आनन्दको भोगेगा, यही मात्र एक अपना कर्तव्य है। अब अपने कर्तव्य

कुछ न लेना न देना, भिन्न पदार्थ हैं, अपनी परिणतिसे आये हैं, समय पाकर अपनी परिणतिसे चले जायेंगे। कोई सम्बंध नहीं, वास्ता नहीं, लेकिन यह जीव ऐसा वशीभूत हुआ है कि वह निर्मोहताका तो ध्यान भी नहीं करता। इतना भी नहीं सोचता गद्गद होकर निर्मोह वीतराग प्रभुका नाम लेकर इतना भी नहीं कहता—हे नाथ! मैं बड़ा अधम हू, बड़ी त्रुटियोका घर हू। निर्मोहताके लिए तो इसकी उत्सुकता ही नहीं जगती है। यह ऐसा पुराना मोह पड़ गया है सतानके रूपसे कि यह अनादि कालसे मोह है, ऐसा यह बहुत विकट मोह भाग्यके दोषसे हुआ है। तीव्र पाप है। मोह स्वयं महापाप है और फिर इस मोहसे रागद्वेष विकल्प की गतियों नरकादिक गतियाँ चलने लगती हैं और यह मोह परद्रव्योंके ग्रहणसे परिग्रहसे उत्पन्न होता है। यह मोह भी बडा गम्भीर है मोही जीवोंको कितना ही समझाया जाय, वहाँ समझ नहीं बैठ पाती है। देखते तो हो। किसीका कोई इष्ट गुजर जाय तो उसका आप कितना ही समझायें, संसारमें जन्म मरण चलता ही है- जीव कोई आया कोई गया। किसका यहाँ कौन है, और खूब समझाये जाने पर भी बात नहीं जमती तो कहते हैं कि अच्छा तुम हमीको लड़का मान लो। अरे कैसे मान ले, वह मोह जिस पर था उसी पर बसा हुआ है। तो यह मोह ऐसा पुराना पड़ गया है जैसे व्रणसे रुधिर आदिककी गतिया चलती हैं इसी प्रकार इस मोह से नरकादिक गतिया चलती हैं, व्रणमें पीडायें होती हैं, खून, पीव आदिसे पीड़ायें उत्पन्न होती हैं तो मोहमें भी महती आकुलता उत्पन्न होती है।

मोहमें प्रभुदर्शनकी बाधकता—आप प्रभुके दर्शन करने आते हैं, स्वय का चित्त· स्वयका उपयोग यदि निर्मोह बना है, अपने आपमें अपने सहज-स्वरूपका स्पर्श किया जा सकता है तो प्रभुके दर्शन होंगे। यह बात अपने आपमें नहीं बननी है तो कहीं भटको, कहीं जावो, प्रभुका दर्शन न मिलेगा। यह मोह प्रभुदर्शनका प्रधान बाधक है। मोही जीवोंमें निर्मोह प्रभुका स्वरूप कैसे बस सकता है? किसी अतिथि को, आफीसरको बुलायें तो आप कितनी सफाई और सजावट रखते हैं और इस निर्मोह प्रभुको आप अपने हृदयमें बुलाये तो यों गदे हृदयमें प्रभुका निवास हो जायगा क्या? नहीं हो सकता। सफाई और श्रृङ्गार दोनों चाहिए, अपने उपयोग को। सफाई तो आशयका नाम है। अभिप्राय शुद्ध हो। मोह ममताका, विषय कषायों का आशय न बना हो, निर्विकार शुद्ध चित्स्वभावका अनुभव करना अपना उद्देश्य किया हो, ऐसी तो सफाई चाहिए। और श्रृङ्गार क्या चाहिए? आत्मचिन्तन द्रव्यगुण पर्यायका यथार्थ विचार यह श्रृङ्गार चाहिए। ऐसे अपने आपके आत्मगृहकी स्वच्छता और श्रृङ्गार हो तो वहाँ

प्रभुका निवास होता होता है।

मोहव्रणके समाप्त करनेका उपाय—अब जैसे गूमड़ा घाव बड़ा फोड़ा हो गया है तो उसे शुद्ध करनेका, निर्दोष अंग बना लेनेका क्या उपाय है? वह फोड़ा कैसे मिटे, घाव कैसे ठीक हो, तो उस उपायमें आप दो काम ही तो करेंगे। फोडेमें जो पीप खून आदि भरे हुए हैं उन्हें निकाल दें और उस पर तैल घी आदिक का लेप कर दें। घावकी पीड़ा मिटानेके लिए दो काम किए जाते हैं—त्याग और ग्रहण कहो, जाति कहो। इसी प्रकार इस मोह का विनाश करनेके लिए दो काम किए जायेंगे—परद्रव्योंका त्याग, परद्रव्य सम्बंधी विकल्पका त्याग और अपने स्वभावका उपयोग, निज जातिका ग्रहण। यों त्याग और ग्रहण द्वारा इस मोहका भी अभाव होता है। तो जब फोड़ा ठीक हो जाता है तो उस पर चमड़ा और रोम प्रकट होने लगते हैं। नया स्थायी चमड़ा आ जाय और उसमेंसे रोम प्रकट होने लगें तो समझिये अब फोड़ा बिल्कुल ठीक हो गया है, और जैसी स्थिति थी शरीरकी स्वभावत: वह स्थिति आ गयी। इस ही तरह जब यह मोह विनष्ट होता है, तब इसमें सम्यक्त्वरूपी रोएँ उत्पन्न होते हैं।

मोह वैरी—भैया! मोह जैसा वैरी अन्य नहीं है इस आपका। चित्त में पक्का श्रद्धान बना लो, इसमें दो बात ही नहीं, राय ही नहीं, गुन्जायश ही नहीं है कि इसके विरुद्ध कुछ सोचा जाय। मोह इस आत्मासे परे है। अपनी भलाई चाहिए तो जो करते बने सो तो ठीक है, पर अन्तरङ्गमें यह श्रद्धान पूर्ण बना लीजिए कि परद्रव्योंका परिग्रह परिजनका, कुटुम्बका जो मोह बसा रहता है, यह मोह ही मेरा वैरी है। कोई एक शराबी था, तो शराब वालेकी दूकानपर गया, बोला हमको बहुत बढ़िया शराब दो। दूकानदार बोला—हाँ हाँ तुम्हें बढिया शराब देंगे। नहीं—हमें बहुत बढ़िया शराब दो, तो दूकानदार बोला कि तुमको अभी भी विश्वास नहीं है हम पर, देख लो दूकानपर १०–२० आदमी बेहोश पडे हैं। कोई नालीमें गिरा है, किसीके मुँहमें कुत्ते मूत रहे हैं। इन सबको देख लो और इनसे ही अंदाज कर लो कि हमारी दूकानपर बढिया शराब है या नहीं है। ऐसे ही मोही जन मोहमें विकल हो, व्यग्र हो रो रहे हैं। पीड़ित हुए इन जीवों को देखता है फिर भी यह विश्वास नहीं करता कि मोह ही इस जीवको वैरी है। आज यहाँ है, इस घरमें है कुछ क्षण बाद न जाने कहाँका कहाँ पहुच गया, न जाने कहाँ जन्म लेगा, किस गतिमें जन्म लेगा, कुछ ठीक ठिकाना भी नहीं है। और मोहमें मान ऐसा रहा है कि मेरे तो सब कुछ ये हैं, उनके ही पीछे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे हैं। इतना व्यामुग्ध होता है मोहमें यह प्राणी। यह मोहरूपी घाव

त्यागसे और स्वरूपग्रहणसे मरता है, विनष्ट होता है, और इसके विनष्ट होनेपर सम्यक्त्व अंकुर उत्पन्न होता है।

मोहविनाशके मलसे ही लाभ—और भी देखिये—यह घाव गूमड़ा फोड़ा अपने ही शरीरमें से तो उत्पन्न होता है। शरीरमें ही विकार बना और उसने गूमड़ेका फोड़ेका रूप रख लिया। कोई बाहरसे मिट्टी चिपकाकर या कोई चीज लगाकर फोड़ा हुआ है क्या? कोई चीज लगाकर तो फोड़ा शायद बन ही नहीं सकता। अपने ही शरीरके भीतरका रुधिर रुक जाय, वायु अचलित हो जाय या जो भी कारण हुआ हो, उन कारणोंके होने पर शरीरमें से ही फोड़ा निकलता है। उस फोड़ेमें पीड़ा भी है, घृणा के योग्य उसमें दुर्गन्धित मवाद आदिक भी हैं। और फिर भी कभी कभी फोड़ा प्यारा लगता है। (चाहे मजाकमें समझ लो) फोड़ा हो तो कैसा हल्के हाथसे उसे फेरते हैं, कोई उसे छुवे तो हाथ उठाकर बड़े प्यारसे उस पर कोमल कपड़ा भी रखते हैं, इतना प्यार करते हैं फोड़ेसे। पीड़ा भी होती है, सारे तो ऐब हैं। उस पीड़ाके मिटे बिना चैन नहीं हो सकती है, ऐसे ही मोहके मिटे बिना जीवको शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए जैसे भी यह मोह मिटे वैसा ही उद्यम करना चाहिए।

सुहृद सुखयन्त स्युर्दु खयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोपि कथ शोच्या द्विषो दु खयितुं मृता ॥१८४॥

समागमका परिणाम—कोई आपका मित्र हो तो मित्र तो वही है जो आपको सुखी करे। आपको सुखी कर रहा है ठीक है। कुछ दिन तक तो वह आपके लिए निधि है और कुछ ही समय बाद वही मित्र आपके विकट दु खका साधन बन जाय तो फिर आप उस मित्रके लिए कुछ सोच भी कर सकते हैं क्या? जब मित्र अपने ही विकट दु खका साधन बन गया तो भला बतलावो वह कुछ अपने शोक करने योग्य है क्या? सभी जानते हैं। तब ऐसे ही यहा देखो ये कुटुम्बी जन परिजन ये मित्र बन रहे हैं। मित्र उसीको ही कहते हैं ना जो सुखका करने वाला हो। पर यह तो बताओ– ये कुटुम्बी जन अन्तमें आपको दु खके साधन बनेंगे या नहीं? नियमसे दुःखके साधन बनेंगे।

प्रेमियोंकी क्लेशहेतुता—सासारिकी प्रकृतिके अनुसार कह रहे हैं। ये सभी कुटुम्बी लोग अन्तमें दु.ख ही उत्पन्न करेंगे। कैसे? जब मरण होगा। खुदका मरण हो तो उनकी निगाह रखकर देखो— सक्लिष्ट होकर मरण होगा। हाय! हम इन्हें छोड़कर जा रहे हैं, जिन्दगीभर कैसे एकमेक दिल रहा, कैसा प्रेम रहा, हाय! अब हम इन्हें छोड़कर जा रहे हैं। ये ग्नने विनयशील थे, आज्ञाकारी थे, हमारे तो सब कुछ यहीं हैं और एक-

दम छोड़े जा रहे हैं, इस प्रकारका कितना सोच होता है। कोई कुटुम्बी जन गुजर जाय तो उसका वियोग भी दुःखके लिए होता है। [संयोगके फलमें अन्तमें होगा क्या ? वियोग। है कोई ऐसा अब तकका पुरुष बड़ी उमरका हजार वर्ष पहिलेका कि जिसका सब कुछ अब भी आपको दीख रहा हो ? पुराणोंमें, इतिहासोंमें सब जगह देख लो- सबकी यही दशा हुई। भले ही चाहे मोहवश बेगम मर गयी तो स्मरणके लिए बड़ा महल बनवा दिया, उसकी यादगार बनवा दिया कुछ भी नामपर किया, पर वियोग तो वियोग ही हुआ। गया सो गया। और स्मारक भी बनवा दिया गया तो भी वह उसके लिए क्या साधक है ? खुदके लिए तो खुदका निर्मल परिणाम साधक है।

प्रेम उपनाम वैर—भैया ! विशुद्ध दृष्टि हो, मोह ममताका अभाव हो, आत्मस्वरूपकी प्रतीति हो, हम अपने शुद्ध आत्मव्यवहारमें चला करें यही सब लाभ देंगे। अन्य कुछ भी चीज यहांकी लाभ न देगी। बल्कि जो जितना अधिक प्यारा है वह उतना ही बड़ा दुःखका कारण है। जो थोड़ा बहुत प्यारा है साधारणसी बात है उसके वियोगमें कौन पागल होता है ? जो अधिक प्रिय होता है उसके वियोगमें जो दशा होनी है वह दुःसह दशा होती है। बड़े-बड़े लोग भी कई दिनों तक पागल रहे, तो यहां किस बातमें मग्न होना, कोई बड़ा सुखकारी मिला और प्रेम भी किया, दो बातें चटक मटककी हो गयीं वही प्रेम कहलाया। प्रेम नाम और है किसका ? केवल एक थोड़ीसी अनुकुल चेष्टा जगी उसका नाम प्रेम है। जो जिसे अधिक प्रिय है वह उसके अधिक दुःखका कारण बनता है।" और फलित शब्दोंमें यह कह लीजिए कि वह उसका उतना ही अधिक वैरी है।

समतामें ही लाभका संदेश—जैसे कोई मित्र पहिले सुखकारी था, पीछे वह दुःखी करने वाला बन गया, द्वेषी बन गया तो ऐसे मित्रके लिए भी कौन शोक करता है। वह तो एक शत्रुके रूपमें हो गया। ऐसे ही ये कुटुम्बी जन आखिर शत्रुके रूपमें होंगे ही। कोई तो जीवितमें ही शत्रुके रूपमें बन जाते हैं। इसके लिए बुद्धिमान पुरुषोंको शोक करना उचित नहीं है। धीरता, गम्भीरता इसको ही कहते हैं कि कोई अधिक नुक्सान हो जाय तो भी उसका ज्ञाता रहे। कोई प्रतिकूल भी चले तो उसे देखकर द्वेषकी ज्वालामें न भुन जाय। यहां पर भी समता परिणाम रक्खे, ज्ञाता रहे।

> अपरमरणे मत्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्,
> विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मनः।
> विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
> कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेपि न केनचित् ॥१८५॥

कोई उपाय हो ही नहीं सकता। संसारमें जिस जिसका भी संयोग हुआ है एक इष्टका। वियोग होनेपर उस उसका वियोग नियमसे ही होगा। हानि अवश्य होगी। अब आप अपनेको संभाल लें, उस हानिके समय भी आप शोक न करें, यही एक प्रयोग करनेकी बात है। ज्ञानसे ही सुख हो सकता है। ज्ञानकी सुध न लें और परवस्तुओंके संचय विषयसे ही हम अपनेको सुखी बनाना चाहें तो यह कभी हो नहीं सकता। इससे भेद विज्ञान बनायें और अपने आपके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान बनायें, अपनेमें सन्तुष्ट रहें, तृप्त रहें, परके विकल्प न आयें तो यही उपाय अपने जीवनमें शान्ति पाने का है और भविष्यमें भी शान्त रहने का है।

॥ आत्मानुशासन प्रवचन पंचम भाग समाप्त ॥



मुद्रक—मैनेजर, जैनसाहित्य प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।